अस्मिता के लिए

विद्यानिवास मिश्र

आमुख

आजकल जिन्दगी जीना आसान नहीं है। अधिकतर तो यन्त्रचालित ढंश से जीना होता है। यदि कुछेक क्षण जीने का अहसास हो पाता है तो इसलिए कि अस्मिता के लिए कभी-कभी बड़ी तड़पन होने लगती है और तब वे कुछेक क्षण इस तड़पन की कौंध से उद्भासित हो जाते हैं। सबसे अधिक अस्मिता की तड़पन अपनी संस्कृति, अपने साहित्य और अपनी भाषा के लिए होती है, क्य ोंकि इन्हीं के द्वारा 'मैं हूं' इसकी प्रतीति सार्थक तौर पर हो सकती है। मैं निरा जीवधारी हूं या अन्य प्राणियों से विशिष्ट मनुष्यनामक जीवधारी हूं या पुरुष हूं, इतने से अस्मिता का कोई आकार खड़ा नहीं होता। मुझे कुछ दिया गया है, किसी मूर्त्त या अमूर्त्त परिवेश द्वारा दिया गया है, किसी परंपरा की जमीन द्वारा दिया गया है, उनसे मेरा 'मैं' कुछ अलग उभरता गया है, 'मैं' कहीं कटता और छंटता गया है और '**अस्मि**' का अनुभव कई प्रकार के यंत्रचालित व्यापारों को तोड़ने वाला, गति को पुनः सक्रिय करने वाला अनुभव प्रतीत हुआ है।

ऐसे अनुभव के क्षण पीड़ा के क्षण जरूर रहे हैं, पर ये दीप्ति के भी क्षण रहे हैं और मैं इन क्षणों का ऋणी हूं। इसके साथ ही उन सबका ऋणी हूं, जिन्होंने ऐसे अनुभव को उकसाया है, राग से या द्वेष से। सबसे अधिक ऋणी हूं अपने पाठकों, श्रोताओं और सह-अध्येताओं का, जिन तक मेरे अनुभव लिखित या वाचिक रूप में समय-समय पर संप्रेषित हुए हैं। लिखते समय, बोलते समय, पढ़ाते समय, लिखा हुआ पढ़ते समय बहुत सहमता हूं, कभी-कभी बहुत निराश रहता हूं, पर अपने भय और अपनी निराशा के बावजूद मैं कुछ कह पाता हूं तो यह मेरे पाठक, श्रोता या सह-अध्येता की आत्मीयता का प्रसाद है। ऐसा लगता है कि वे ही मुझसे कुछ कहला लेते हैं।

भाषा, संस्कृति और शिक्षा ही मेरे विचार-क्षेत्र हैं और इन्हीं के संबंध में मेरी कुछ चिंताएं और मेरे कुछ प्रश्न प्रस्तुत संग्रह में मुखरित हुए हैं। आलेख-प्रकाशन के श्री उमेश जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं कि उन्होंने यह संग्रह मुझसे तैयार करा लिया।

ऋषि पंचमी, भाद्रपद शु० ५, २०३७ विक्रमी

विद्यानिवास मिश्र

अपने स्नेही अग्रज भवानी भाई
को
सादर समर्पित

अनुक्रम

मेरा देश वापस लाओ

इधर देश के कई भागों में जाना हुआ, चुनाव के नारे सुने, चुनाव के घोषणा-पत्र पढ़े, 'नित नया मुखौटा', बदलती राजनीति की रंगत देखी, यही लगा कि पहले विष्णु भगवान् ही क्षीरसागर में सोने चले जाते थे, अब लगता है देश की धरती भी कहीं समुद्र में सोने चली गयी है। देश के सीमांतप्रांतों में स्वायत्तता की जो मांग उभर रही है, कश्मीर और मेघालय में अपने ही देश का आदमी विदेशी माना जाने लगा है, मणिपुर में हिंसा की राजनीति उभर रही है, असम में चुनाव स्थगित कराने के लिए सरकारी रथ का पहिया जाम कर दिया गया है, यह सब देखकर यही लगता है कि देश की केंद्रीय सत्ता कहीं विलुप्त हो गई है। कुछ राजनीतिक दलों के नेता केवल राज्यों के छोटे टुकड़ों की बात करते हैं। कुछ केवल अल्पसंख्यक हित की बात करते हैं। कुछ विशेष जातियों के मसीहा बने हुए हैं। सभी किसी न किसी रूप में प्रादेशिकता के दबावों में कहीं न कहीं देश को समझौते का मुद्दा बना रहे हैं। एक भी घोषणा पत्र नहीं देखा जिसने, हिंदी की बात जाने दीजिए, हिंदी द्वितीय श्रेणी के नागरिकों की भाषा है, भारत की दूसरी राष्ट्रीय भाषाओं की बात ही की हो, हां अंग्रेजी की रक्षा की बात जरूर की। मतदान में जातिवाद से अधिक जहरीला जाति-विद्वेषवाद उभरा। अमुक नेता अमुक घृणित जाति का है, उसे हम मत न दें, न उसकी जाति वाले लोगों को मत देने दें। हर पार्टी को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के अल्पसंख्यक रूप की रक्षा की सुधि थी, किसी ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, विश्व भारती, गुजरात विद्यापीठ जैसी राष्ट्रीय दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व वाली संस्थाओं के स्वदेशी और सर्वदेशीय स्वरूप के विकास की बात नहीं की। देश के भूगोल की बात जाने दें, देश की वैचारिक मुख्यधारा की बात भी आज कोई करने को तैयार नहीं है। तो देश कहां चला गया?

श्रीनगर में साहित्य अकादेमी (जिसका अंग्रेजी नाम नेशनल एकेडमी आफ लेटर्स है) ने कश्मीरी कवि श्री गुलाम रसूल 'संतोख' को अकादेमी-पुरस्कार दिया। सारी कार्रवाई अंग्रेजी में हुई, अंग्रेजी में ही पुरस्कृत विद्वान् के भाषण की प्रतिलिपि बांटी गयी, हालांकि पुरस्कृत लेखक ने कश्मीरी में भाषण पढ़ा और रोना रोया कि कश्मीर में भी कश्मीरी को कोई सम्मान का दर्जा प्राप्त नहीं है। प्रशस्ति-पत्र भी अंग्रेजी में पढ़ा गया। मैंने अकादेमी के सचिव से पूछा कि क्या हिंदी में प्रशस्ति-पत्र भी नहीं पढ़ा जा सकता, हिंदी इस काबिल भी नहीं है कि अपनी बहन भाषा के साहित्यकार की अभिवृद्धि की कामना कर सके। मैंने यह भी कहा कि उस मजलिस में लोग अंग्रेजी की अपेक्षा हिंदी समझने वाले ही अधिसंख्य थे। उन्हें अंग्रेजी में छपी प्रशस्ति और भाषण-सामग्री वितरित की जा सकती थी, पर हिंदी आज संदर्भहीन भाषा है, वर्जित भाषा है, उसका इतना संवैधानिक महत्त्व भी नहीं रहेगा कि उत्सवों-समारोहों में उसका व्यवहार हो।

साहित्य अकादेमी राष्ट्रीय साहित्य की एकता पर सेमिनार आयोजित करती है, पर उसमें केवल अंग्रेजी में निबंध पढ़े जा सकते हैं, अंग्रेजी में चर्चा हो सकती है। अंग्रेजी है तो भारतीय भाषाओं में संतुलन बना हुआ है। अंग्रेज थे तो हिंदुस्तान एक था। अंग्रेज अपने रहने के लिए यही तर्क देता था कि हम चले जायेंगे तो देश छिन्न-भिन्न हो जायेगा। अब हमारे हाकिम अंग्रेजी के लिए यही तर्क देते हैं कि अंग्रेजी नहीं रहेगी तो हमारी एकता खंडित हो जाएगी। कोई नहीं कहता कि अंग्रेजी द्वारा स्थापित एकता सुविधाप्राप्त वर्ग की एकता है, इस एकता के कारण हम निन्यानबे प्रतिशत गैर-अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग से अलग हो जाते हैं।

हां, यह जरूर है कि अंग्रेजी की इस सहबंधुता के कारण यह अहसास हमें जरूर बना रहता है कि हम विशिष्ट भारतीय हैं, हम भारत के सच्चे प्रतिनिधि हैं, हम भारत की गूंगी जनता के स्वर हैं, हम अज्ञान और मोह के तम में घिरी जनता के प्रकाश हैं, हम असंख्य पंगुजनों की बैसाखी हैं, क्योंकि केवल अंग्रेजी बोलती है, केवल अंग्रेजी शिक्षा की रोशनी देती है, केवल अंग्रेजी चलती है और केवल अंग्रेजी चलाती है। 'हिंदुस्तान' नामक कोई देश है तो वह अंग्रेजी का नया उपनिवेश है। कभी वह अंग्रेजों का उपनिवेश था, पर तब भी महात्मा गांधी की कृपा से अंग्रेजी का उपनिवेश नहीं था, तब अंग्रेजी में स्वदेशी शिक्षा नहीं दी जाती थी, अब अंग्रेजों ने मुक्ति दी तो अंग्रेजीदां मालिकों ने अपनी सुख-सुविधा के लिए अपनी पीढ़ी-दर-पीढ़ी की सुविधा के लिए, गैर-अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की शाश्वत पराधीनता के लिए ऐसी अभिसंधि की कि पहले हिंदी का गलत विकास किया, गलत प्रचार किया और बाद में हिंदी को देश की एकता में रोड़ा साबित कर दिया। पहले कुत्ते को एक खराब नाम दिया, फिर खराब नाम वाले कुत्ते को फांसी की सजा सुना दी।

मैं मलयेसिया गया हुआ था, मुझसे भाषा-योजना विभाग के निदेशक ने कहा कि आपकी राष्ट्रीयता की कैसी परिकल्पना है, जिसमें एक राष्ट्रीय भाषा की बात नहीं की जाती। हमारे यहां भी कई भाषाएं हैं, चीनी है, तमिल है, हिंदी है, भाषा-मलय है, कई कबायली भाषाएं भी हैं, यह नहीं कि भाषा-मलय बोलने वाले बहुमत में हों। पर जो भाषा व्यापार या संपर्क सूत्र की भाषा अंग्रेजों के आने के पहले थी, उसे हमने अपनी मुख्य भाषा घोषित किया। उसके प्रयोग, प्रशिक्षण और विकास को राष्ट्र का विकास मानते हैं। चीनी, तमिल जैसी भाषाएं पढ़ायी जायें, इसकी व्यवस्था करते हैं। पर हम भाषा-मलय के बिना मलयेसिया की कल्पना नहीं कर सकते और आप लोग हैं कि अंग्रेजी टिकाये हुए हैं, उर्दू को हिंदी के समकक्ष दर्जा देने वाले आंदोलनों को प्रश्रय देते हैं।

मैंने अपने देश की राष्ट्रीय नीति की सफाई में बहुत कुछ कहा, क्योंकि देश के बाहर नागरिक का कर्त्तव्य होता है कि देश की राष्ट्रीय नीति का समर्थन करे, पर वह यही कहते रहे कि आप गलत और खतरनाक रास्ते पर जा रहे हैं। इंदोनेसिया में तो और विचित्र स्थिति है। जावा की आबादी कुल इंदोनेसिया की आबादी का सत्तर प्रतिशत के आस-पास है, पर जिस भाषा को 'भाषा-इंदोनेसिया' का दर्जा प्राप्त है, वह सुमात्रा की भाषा है। उसके बोलने वालों की संख्या बीस प्रतिशत है। पर चूंकि विभिन्न द्वीपों के साथ संपर्क-सूत्र सुमात्रा की भाषा ही पहले से बनी हुई थी, इंदोनेसिया ने उसे ही राष्ट्रभाषा माना और इस भाषा को जावा की अपेक्षाकृत संपन्नतर और प्राचीन साहित्य वाली भाषा को राष्ट्रीय दर्जा नहीं दिया।

इन देशों में सर्वत्र एक ही भाषा का व्यवहार है, क्षेत्रीय भाषाओं का महत्त्व उसके बाद क्षेत्रीय स्तर पर है, पर समस्त व्यापार, राज्य-शासन, उच्च शिक्षा सब 'भाषा-इंदोनेसिया' के माध्यम से ही चलते हैं। इंदोनेसिया बहुत छोटा देश भी नहीं। वहां की भाषा में पारिभाषिक शब्द आज भी संस्कृत-मूल से लिये जा रहे हैं, फैकल्टी आफ आर्ट्स 'शास्त्र की फैकल्टी' कही जाती है, 'मंत्री' 'मंतरी' कहा जाता है और पहले कुछ अंतर्राष्ट्रीयता के नाम पर अंग्रेजी की ओर झुकाव था, पर पुनः अपने मूल सांस्कृतिक स्रोत की ओर झुकाव ही समीचीन लगने लगा है। वहां की एक प्रबुद्ध महिला डा० सुभद्रियो ने हल्के उलाहने के स्वर में कहा, "मैं कहती हूं कि भारत से सांस्कृतिक विनिमय में संस्कृत विशेष रूप में, संस्कृत व्याकरण का विद्वान् यहां बुलाया जाना चाहिए, पर लोग हैं कि बस इतिहास और समाजशास्त्र को वरीयता देते हैं।" यहां उल्लेखनीय है कि स्व० डा० रघुवीर ने पारिभाषिक शब्दावली की संस्कृतमूलकता की प्रेरणा इंदोनेसिया और थाईलैंड से प्राप्त की थी, पर यह सब चर्चा आज अर्थहीन है।

हिंदुस्तान की बुनावट बदल रही है, बड़ी तेजी से बदल रही है। इसमें आदर्श

का सूत केवल किनारी की बुनाई के काम आता है। आदर्श का महत्त्व अब हाशिये में है, पूरी बुनावट तो ऐसे सूतों से है जो बस छह महीने चलें, जब तक चलें तब तक चमकें, उन पर पानी न पड़ने पाये, बस शाम के धुंधलके या नियोन रोशनी में पहने जायें, दिन की रोशनी में वे मैले हो जाते हैं। ये सूत सत्ता के हैं, सुविधा के हैं, ये सिंथेटिक हैं, क्या-क्या मिलकर बनते हैं, भगवान् ही जानें, पर शायद उस किसी चीज के नहीं बनते, जिसका धरती से सीधा रिश्ता हो, जो धरती में अंकुरित होता हो, बढ़ता हो, फूलता हो और फलता हो।

इस हिंदुस्तान का हृदय कहा जाता है, उत्तर प्रदेश। चुनाव की गहमागहमी में अल्पमत वाली केंद्रीय सरकार की प्रांतीय जोड़ीदार सरकार ने घोषणा की कि त्रिभाषा-सूत्र में संस्कृत नहीं रहेगी, हिंदी के पर्चे में १० प्रतिशत के स्थान पर २५ प्रतिशत अंक संस्कृत के लिए रख दिये जायेंगे। इस उदारता पर बलि जाने की तबीयत होती है। कहने को भारत की एकता की स्थापना हो गयी, पर व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि त्रिभाषा-सूत्र में दूसरी भारतीय भाषा पढ़ाने के लिए अध्यापक मिलेंगे नहीं, केवल उर्दू पढ़ाने वाले मिलेंगे। उर्दू अनिवार्य रूप में पढ़ायी जायेगी। वही उर्दू जिसके बारे में मौलाना अब्दुल हक ने पाकिस्तान की अंजुमने-तरक्की-ए-उर्दू के जलसे में रोना रोया कि पाकिस्तान के लोग कितने एहशान-फरामोश हैं, ये उर्दू की कोई चिंता नहीं करते, जबकि पाकिस्तान न जिन्ना के कारण बना, न इकबाल के कारण, वह बना उर्दू के कारण। उर्दू ने बहुसंख्यक समुदाय के खिलाफ ऐसी नफरत के बीज बोये कि पाकिस्तान बनकर रहा। मैं मौलाना अब्दुल हक की इस स्थापना से कतई सहमत नहीं हूं। पर यह जानता हूं कि कुछ उर्दू अखबार और उर्दू रिसाले आज भी हिंदुस्तान में सांप्रदायिकता का स्वर यदा-कदा उभारते हैं और यह अशुभ लक्षण है। उर्दू के साहित्य का जो भी हिस्सा देश की मुख्य धारा से जुड़ा हुआ है, मनुष्यता के दावे से जुड़ा हुआ है और प्यार के संदेश से भिना हुआ है, उसको हिंदी के पाठ्यक्रम में उचित अनुपात में स्थान मिले। हिंदी सीखने वाला समृद्धतर-पूर्णतर संस्कार प्राप्त करे, इसकी व्यवस्था करने के बजाय उत्तर प्रदेश सरकार ने बिना विधानसभा से आदेश लिए छलपूर्वक एक घोषणा की, इसलिए नहीं कि उस सरकार के दिमाग में देश की एकता का कोई स्वप्न था, बल्कि इसलिए कि तत्काल अल्पसंख्यक वर्ग के मतों का लाभ उसकी जोड़ीदार केंद्रीय अल्पमत सरकार को मिले। पर यह सरकार यह भूल गयी कि इससे उर्दू का अहित होता है। उर्दू को अल्पसंख्यक वर्ग से जोड़ना उर्दू के हित में नहीं है। ऐसे प्रयत्नों से वह अल्पसंख्यक वर्ग उर्दू-भाषी बनाया जा रहा है। नहीं तो वह भोजपुरी बोलने वाला है, अवधी बोलने वाला है, पंजाबी बोलने वाला है, मलयालम बोलने वाला है, साथ-साथ कभी-कभी कोई दूसरी भाषा भी सीखता है, किन्हीं परिस्थितियों में उर्दू भी सीखता है, पर केवल एकमात्र उर्दू नहीं सीखता।

हां, यह जरूर है कि उर्दू किसी प्रदेश की भाषा नहीं है। कश्मीर ने उसे जरूर राज्य-भाषा के रूप में स्वीकृति दी है और यह स्वीकृति कश्मीरी के विकास की कीमत पर दी गयी स्वीकृति है। उर्दू को व्यावहारिक रूप में अनिवार्य बनाकर देश की एकता की स्थापना होगी या हिंदी भाषा के पाठ्यक्रम में उर्दू साहित्य को सम्मिलित करने से होगी या उससे भी अधिक भारतीय साहित्य के शाश्वत मूल्य की रचनाओं के उत्कृष्ट हिंदी अनुवादों से सामग्री चयन करके हिंदी भाषा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने से होगी ?

पर हमारी शिक्षा-नीति क्या समूची विकास-नीति का आधार एकता हो तब न ? आधार तो है भेद, संप्रदाय-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद, प्रदेश-भेद और शिक्षास्तर-भेद और इन्हीं भेदों के बल पर सत्ता की राजनीति फल-फूल रही है। भेदों से ऊपर जाकर साहसपूर्वक देश की एकता की बात करने में तत्काल कुछ असुविधा दीखती है, तात्कालिक समझौतों के लिए कुछ बाधा दीखती है। समझौता तो वही ज्यादा कर सकता है, जो किसी जमीन पर टिका न हो, कहीं टिके व्यक्ति को असुविधा होगी ही। आज किसी जमीन पर विशेष रूप से एक देश की जमीन पर टिकने की असुविधा भारी पड़ रही है।

संस्कृत की समृद्धि में तो हर प्रदेश का योगदान है, दक्षिण ने शंकर-रामानुज-सरीखे तेजस्वी आचार्य दिये। महाराष्ट्र ने अभी कल तक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, काणे, भण्डारकर जैसे संस्कृत के निष्णात पंडित दिये, बंगाल और मिथिला ने नव्यन्याय की गौरवशाली तर्क परंपरा दी, कश्मीर ने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन दिया, गुजरात ने महर्षि दयानंद जैसा भाष्यकार दिया, राजस्थान ने ज्योतिष ज्ञान की नयी नींव डाली, काशी ने व्याकरण का विकास किया, संस्कृत सारे भारत को एक सूत्र में बांधने का कार्य करती रही, उसने अरबी, फारसी, ग्रीक सबसे लिया, सबको दिया। उसमें समस्त भारतीय ऐतिहासिक भाषा-परिवारों के शब्द आये और कुमारिल भट्ट जैसे विद्वान् ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया कि संस्कृत में द्रविड़ मूल के शब्द हैं, वह किसी धर्मविशेष की भाषा नहीं रही।

आज भी समस्त भारतीय भाषाओं में यहां तक कि उर्दू में भी संस्कृत मूल के शब्द एक बड़ी संख्या में पचा लिये गये हैं, और कमोबेश इन शब्दों के अर्थ समान हैं। इसी के कारण समस्त भारतीय भाषाओं में शब्दार्थग्रहण के स्तर पर व्यापक रूप में एक साझेदारी दिखाई पड़ती है। संस्कृत के कारण ही भारतीय भाषाओं की सर्जनात्मक दृष्टि में विश्व की संधारणा समान है। यह विश्व मनुष्य-केंद्रित नहीं है, चैतन्य-केंद्रित है। मनुष्य इस विश्व में नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों और अन्य जीवों के साथ सुख-दुःख में साझीदार (कुछ अधिक जिम्मेदारी वाला साझीदार) है। उस संस्कृत को त्रिभाषासूत्र में यदि स्थान था तो उसमें क्या क्षति थी ? क्या संस्कृत को २५ प्रतिशत अंक देने से संस्कृत-ज्ञान का कोई स्तर आ सकेगा ? उर्दू

को स्थान दिया जाए, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है संस्कृत को हटाकर उर्दू को स्थान दिया जाए, क्योंकि संस्कृत से तो विश्व की एकता सधती है, महान् देश सधता है। और उर्दू से सधता है तत्काल लाभ, चंद अतिरिक्त मतों की अल्पकालिक शक्ति सधती है।

उत्तर प्रदेश देश का हृदय है और हृदय का स्पंदन जब इस प्रकार विपरीत हो तो फिर क्या आशा की जा सकती है? बरसों पूर्व, मुझे स्मरण है, विंध्य प्रदेश में श्री कस्तूरी संतानम् उपराज्यपाल थे। उन्होंने दो-तीन भाषणों में यह विचार व्यक्त किया कि, 'हिंदुस्तान में एकता के सूत्र के रूप में संस्कृत और हिंदी दो भाषाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, पर संस्कृत के विकास का भार हिंदी-भाषी क्षेत्रों पर पड़ना चाहिए और हिंदी के विकास का भार अहिंदी-भाषी क्षेत्रों पर।' उनका तर्क यह था कि हिंदी-भाषी संस्कृत सीखकर देश की मुख्यधारा से जुड़ें और हिंदीतर भाषा-भाषी हिंदी सीखकर। जो कोई हिंदी क्षेत्र में संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाएं सीखे, उसे पूरी सुविधा मिले, पर कम से कम वह संस्कृत अवश्य अच्छी तरह सीखे, जिससे उसमें एक भारतीय मानस का विकास हो। उसी तरह अहिंदी-भाषी हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत सीखना चाहे तो सीखे, पर हिंदी सीखकर भी वह मुख्य धारा से जुड़ जाएगा। संतानम् का सुझाव कुछ राज्यों में व्यवहार रूप में लाया भी जा रहा था, पर जब सोचने का आधार ही देश न रह जाए तब क्या कहा जा सकता है?

देखता हूं हिंदी में प्रपत्र है, पर लड़का बड़े ही टेढ़े-मेढ़े-भोंड़े रोमन अक्षरों में वह प्रपत्र भरता है। अंग्रेजी में हस्ताक्षर करने में अपनी शान समझते हैं, नये वर्ष की बधाइयां आ रही हैं, सभी अंग्रेजी में। हिंदी में अब अभिवादन भी नहीं हो सकता। हिंदी के प्राध्यापक भी अंग्रेजी ग्रीटिंग कार्ड का प्रयोग करते हैं। कहते हैं कि हिंदी में सुंदर कार्ड छपते ही नहीं। बात उनकी सही है। हिंदी में खाना-पीना, हंसना-बोलना कहां सलीके का होगा? सुरुचि तो अंग्रेजी दिमाग में ही पैदा हो सकती है! रही बात सौंदर्य की, तो जो नैसर्गिक है, उसे तो अंग्रेजी छीनने से रही, पर जो बनावटी है, वह हिंदी को न नसीब हो, इसी में उसकी भलाई है। हिंदी के चेहरे पर पाउडर न पुते, हिंदी की आंख की कोर करारी न बनाई जाए, हिंदी तभी फबेगी। परंतु हिंदी का संबंध तो देश से है। इस समय तो देश का कोई जीवित संदर्भ रहा नहीं। हिंदी ही क्यों, किसी भी भारतीय दृष्टि का कोई संदर्भ नहीं रहा। हम या तो प्रदेश हैं या प्रादेशिक भाषा हैं या संप्रदाय हैं या जाति हैं या वर्ग हैं, या बहुत ऊंचे उठे तो कोई राजनीतिक दल हैं, बस यही हैं कि हम हिंदुस्तानी नहीं हैं।

हमने अपने देश में गणतंत्र की स्थापना ३० वर्ष पूर्व की, प्रतिज्ञा ली कि किसी भी जाति, भाषा, वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं बरतेंगे और आज हमने राजनीति का आधार शुद्ध रूप से भेदभाव बना लिया है। देश की अखंडता हम खंडन-

वादी शक्तियों के यहां गिरवी रखने में संकोच नहीं कर रहे हैं और एकता के लिए हमारे पास पराये देश की भाषा की अधीनता ही एकमात्र संबल है।

भाषाओं की बात छोड़ दें और यह मानकर चलें कि कोई अंतरात्मा का स्वर तो है नहीं, हमारा देश आजकल अंतरात्मा की आवाज पर चलता है, अंतरात्मा की बात करें तो भी लगता है कि इस अंतरात्मा के ऊपर कोई जिन्न सवार है। यह उलटवासियों में बात करती है। कभी गांधी बनती है, कभी लोहिया और अब कभी-कभी जयप्रकाश। पर हर हालत में बात करती है सिंहासन की। झोंपड़ी जाने कहां आंधी में उड़ गई, बरगद उखड़ गया, चर्खे में पोलिस्टर का धागा भन-भनाने लगा, केवल रत्न-जटित सिंहासन की इन्द्रधनुषी छटा आंखों में पेंग मारती रही, सत्ता के सुख का झूला झूलता रहा। गांधी, लोहिया और जयप्रकाश कोरी आवाज रह गये, अंतरात्मा इस भावना को गटागट पी गई। गांधीजी की धरोहरी का अर्थ मालिक हो गया, लोहिया का समता-विद्यालय लोहिया के चेलों की कृपा से स्वप्न हो गया और संपूर्ण क्रांति मतदान केंद्रों पर कब्जे में प्रतिफलित हो गई। अंतरात्मा ने ऐसी ही आवाज लगाई थी।

अंतरात्मा बड़ी प्रबल धार है। वह एक क्षण में असत् को सत् कर देती है जो कल अशुचि था, वही शुचि हो जाता है, जो कल अन्यायी था, वही न्याय का संस्थापक बन जाता है, जो कल तानाशाह था, वही लोकतंत्र का मसीहा बन जाता है, अंतरात्मा ऐसा कैवल्य है, ऐसी गुणातीत अवस्था है कि वहां न पुण्य रह जाता है न पाप, न मैत्री रह जाती है न शत्रुता, न सम्मान रह जाता है न अपमान। वह ब्राह्मी स्थिति है, वहां भले-बुरे का द्वैत रह ही नहीं जाता। उसकी आवाज पर जो करें, वही मुक्त भाव से किया गया कर्म है और निष्ठा से प्रेरित कर्म तो बंधन है।

इस अंतरात्मा ने निष्ठाओं के बंधन से छुटकारा दे दिया। स्वाधीनता के लिए भी निष्ठा संदर्भहीन हो गई है। आदमी स्वाधीनता के दायित्व से भी मुक्त है, पड़ोस में कुछ हो, हुआ करे, हमारे देश में धीमी गति से क्रिकेट का खेल चलता रहेगा, उसका आंखों देखा हाल मेड़ों पर, चौराहों पर सुना जाता रहेगा, टुक-टुक गेंद पिटती रहेगी, गेंद फेंकने वाले फेंकते-फेंकते ऊबते और खीझते रहेंगे और गेंद उड़ेगी नहीं, तेज बल्लेबाज कसमसाते रहेंगे, पर बल्ला रन न बनाने वालों के हाथ में रहेगा, क्योंकि इस देश में रन बनाना नहीं, विकेट पर डटे रहना सबसे बड़ी साध है। सारी निष्ठा बस इस एक साध में केंद्रित है, संसद् के गोल चक्कर से बाहर न होने पाएं, इसके लिए जो भी कुर्बानी करनी पड़े, मैत्री, सिद्धांत यहां तक कि देश, कोई भी कुर्बानी छोटी है। अंतरात्मा को उपनिषदों से पुकार मिलती है 'आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्' आत्मा के लिए पृथ्वी को भी त्याग देना चाहिए।

पर मुझे अंतरात्मा की नहीं, देश की दरकार है। मुझे ही नहीं, जो भी इस देश

में सांस लेता है, सांस छोड़ता है, आह भरता है, उच्छ्वसित होता है, उसे निर्बंध अंतरात्मा नहीं चाहिए, कुछ विचारों के आकाशों में बंधा देश चाहिए, जिसमें प्राण हो, पानी हो, सूरज हो, गंध हो, स्वर हो, अपना स्वर हो। भूगोल विशेषकर राजनीतिक भूगोल जिस देश को बांधता है, वह देश छोटा हो जाता है, कोई नसल या जाति अगर बांधती है तो और छोटा हो जाता है। आज तो स्वाधीनता की दो-दो पीढ़ियां तैयार हो गई, पर पराधीन दिनों में जिस देश ने पुकारा था, वह मैं खोजता हूं, नहीं मिलता।

बात याद आती है भाषा की, शायद भाषा से सरोकार गरीब कलमनवीस का कुछ ज्यादा होता है। भारत सरकार का एक केंद्रीय हिंदी संस्थान है, उसका तथाकथित मुख्यालय मेरे ही शहर आगरा में है, उसने गये साल एक गोष्ठी आयोजित की, भाषा-अधिगम विषय था, पूरी गोष्ठी अंग्रेजी से अंग्रेजी में संचालित हो रही थी, मैंने हिन्दी में बोलने के लिए क्षमा मांगी, क्योंकि हिंदी आज पूरे देश में क्षमा-प्रार्थिनी है, कुछ भी गड़बड़ हो, हिंदी के सिर पर थोपी जाती है। लड़के उपद्रव करें तो हिंदी जिम्मेवार, यह दूसरी बात है, बाद में उसे भुनाकर लोग कुर्सी पर बैठ जाएं और कहें छात्रों ने सम्पूर्ण क्रांति की मशाल उठाई थी; देश में कीमतें आसमान छुएं उसके लिए हिन्दी जिम्मेवार, हिंसा हो तो हिंदी जिम्मेवार, लोग कायरतापूर्वक अनीति बर्दाश्त करें तो हिंदी जिम्मेवार, क्योंकि हिंदी निष्क्रियता सिखलाती है, देश प्रगति न करे तो हिंदी जिम्मेवार, देश में कोई भी तनाव हो तो हिन्दी वाले असहिष्णु हैं, यह कहा जाता है। हर एक गुनाह के लिए जिम्मेवार हिंदी, क्योंकि वह देश की बात करती आई है, करती जाती है। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि हिंदीभाषी क्षेत्र में भी हिंदी हिंदी से कतराती है कि कहीं किसी को यह न भान हो कि हिंदी अनुदार है। केंद्रीय हिंदी संस्थान हिंदी अध्यापकों को प्रशिक्षित करता है, पर उसके चिंतन में हिंदी का योगदान होना जुर्म है, देश की एकता तो अंग्रेजी के सूत्र से संचालित है, हिंदी तो अंग्रेजी की चीनी प्यालों की दुकान में अंग्रेजी मुहावरे का सांड़ है, उसके कारण ही तो सुख-सुविधा वाली एकता के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध है।

हिंदी की संस्था जब अंग्रेजी में चलेगी तब हिंदी के विकास की तो बात ही क्या है। हिंदी से यह किनाराकशी देश के खो जाने का ही प्रमाण है। हर कहीं सुनता हूं चुप-चुप, हिंदी की बात न करो, लोगों का मन दुखता है, अंग्रेजी से हुलसता है, उर्दू से उमगता है, हिंदी से दुखता है, हिंदी को सब कोई समझ लेते हैं; हिंदी को कोई कैसे भी बोले, हिंदी वाला उसे सिर-आंखों लेता है, कोई हिंदी को जीविका बनाकर भी विदेश से आए तो टूटी-फूटी अटकती-भटकती हिंदी बोले तो हम उसके ऊपर अपनेको न्योछावर कर देते हैं, हिंदी के ये विदेशी विद्वान् हैं, हां, हिंदी अपने प्रदेशों में भी सही बोली जाये, संस्कार के रूप में अपनायी जाये,

इसकी आवश्यकता नहीं समझते। जो संस्कार के रूप में हिंदी का वरण करता है, वही इस देश में सबसे अधिक नगण्य है। भोजपुरी में लिखिये, अवधी में लिखिये, राजस्थानी में लिखिये, डोगरी में लिखिये, यहां तक कि मेरठ की खड़ी बोली में लिखिये, आप वरेण्य हो जायेंगे, हिंदी में लिखेंगे तो बस एक बटा बाईस रहेंगे, यह त्रैराशिक मेरा नहीं साहित्य अकादेमी का है, पर आप अंग्रेजी में अपनी रचना का अनुवाद छपा सकें तो आप तेईस बटा बाईस हो जायेंगे।

अहिंदी-भाषी हिंदी में रचनात्मक साहित्य लिखे तो उसे पुरस्कार दिया जाता है, मानो हिंदी में लिखते समय भी उसकी भाषा हिंदी नहीं है। कोई नहीं सोचता कि रचनात्मक साहित्य उसी भाषा में लिखा जा सकता है, जिस भाषा के साथ भीतर का जुड़ाव होना है, लिखते समय उस भाषा का हो न तो लिखा ही नहीं जा सकता। अमृतलाल चक्रवर्ती ने हिंदी में लिखा, हिंदी का होकर लिखा, रहीम ने हिंदी में लिखा, हिंदी का होकर। वह अहिंदी-भाषाभाषी नहीं थे, द्वि-भाषाभाषी भले ही रहे हों। अन्य भाषाभाषी पुरस्कार की व्यवस्था ही हिंदी को जाति और प्रदेश से बांधती है। भाषा इन चीजों से नहीं बांधती, वह बांधती है एक समुदाय होने की आकांक्षा से। यह आकांक्षा स्वाधीनता के प्रयत्न से जुड़ी थी।

हिंदी का आंदोलन स्वदेशी आंदोलन का और महात्माजी के स्वराज्य-आंदोलन का अंग था, स्वाधीनता की फलप्राप्ति के बाद एक समुदाय की आवश्यकता समाप्त हो गयी, हम कई संप्रदाय हो गये, कई प्रदेश हो गये। वह भी मंजूर, पर यह कैसे मंजूर हो कि हिंदी अंग्रेजी की जूठन बनकर रहे, देश केवल पश्चिमी कल्पना का राष्ट्र बनकर रहे, वह महान् विचारों का प्रकाशपुंज न रहने पाये, वह राजनीति का सौदा हो जाये, इस देश का आदमी अल्पसंख्यक होकर रहे या अल्पसंख्यक के भय से त्रस्त और कुंठित बहुसंख्यक बनकर जीये। यह कैसे मंजूर हो कि मुख्य धारा को उसके उत्स से काट दिया जाये और उसे फिर महासागर में मिलकर उससे एकाकार होने से वंचित किया जाये। समास में भी एक मुख्य अर्थ रहता है, यहां तक कि द्वंद्व समास में भी जहां दो या दो से अधिक का समुच्चय होता है, वहां भी समस्त शब्द अपने अलग-अलग घटकों से अलग और विशिष्ट होता है, भारतीय संस्कृति में और भारतीय विचारधारा में कुछ न कुछ ऐसा है जो मुख्य है, उस मुख्य को राजनीतिक दांव पर जो चढ़ाता है, वह देश को दांव पर चढ़ाता है।

देश की इस मुख्य धारा में न केवल हिंदू है, न मुसलमान, न ईसाई, न पारसी, पर वह जरूर है जो दूसरे की बात भी समझ सकता है, दूसरे की दृष्टि मानने की सहिष्णुता रखता है, जो हिंदू इस्लाम की समता और बंधुता से प्रभावित न हो, वह इस मुख्य धारा का स्नातक नहीं है, जो मुसलमान हिंदू उपासना और हिंदू भक्तिभाव को आदर की दृष्टि से नहीं देखता, हिंदू त्योहारों के उल्लास से अन-

छूआ रह जाता है, वह भी मुख्यधारा से कटा हुआ है। सेक्यूलर होने का अर्थ आज हो गया है मुख्य भाव धारा का निषेध या उसकी अस्वीकृति, जबकि भारतीय संदर्भ में अर्थ होना चाहिए था समस्त मजहबों के लिए समान आदरभाव। सेक्यूलर व्यक्ति में साहस होना चाहिए कि कहे कि साम्प्रदायिकता केवल बहुसंख्यकों की नहीं होती, वह अल्पसंख्यकों की भी हो सकती है और प्रत्येक सांप्रदायिकता एक विषैली शृंखला को जन्म देती है। जिसका जो प्राप्य हो, उससे अधिक उसे दिया जाये तो उसका ही सर्वनाश होता है। अल्पसंख्यक के हित की रक्षा का अर्थ बहुसंख्यक के न्यायपूर्ण हित की हानि नहीं है पर अल्पसंख्यकवाद ने इतना जोर पकड़ लिया है कि अब इस देश में सभी अल्पसंख्यक हो जायेंगे, बहु-संख्यक में अपने को कोई शुमार नहीं करना चाहेगा। क्या वर्ग-विभाजन सेक्यूलर राज्य में हिंदू-मुस्लिम-ईसाई-पारसी के रूप में ही होता रहेगा या आर्थिक एवं शैक्षिक दृष्टि से विपन्न लोगों को एक जाति मान कर उनके उन्नयन की चिंता की जायेगी ?

उक्त प्रश्न का मुझे कोई उत्तर नहीं मिलता। हिंदुस्तान की सार्वदेशिक पार्टियां क्षेत्रीय, मजहबी और जातीय हितों से अपना रिश्ता बैठा रही हैं, कोई अखबार नहीं, जो इन समीकरणों की भाषा न बोलता हो, कौन पार्टी अकाली से गठबंधन करेगी, कौन अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम से, कौन गोमांतक पार्टी से, कौन आमरा बांगाली से, कौन जाट पार्टी है, कौन जाटव, कौन ब्राह्मण, कौन ठाकुर, बस इन्हीं चर्चाओं की गर्मी से अखबार हाथ सेंक रहे हैं। कोई भी देश की, देश-धर्म की भाषा नहीं बोलता।

मेरे देखते-देखते देश कहीं खो गया। कुछ मित्र कहते हैं, देश की एकता का बोझ तुम्हीं क्यों नाहक ढो रहे हो ? हिंदीभाषी क्षेत्र की एकता की बात करके चुप क्यों नहीं हो जाते ? उनको कैसे समझाऊं कि अभ्यास गलत है, यह भी कैसे बतलाऊं कि अब तो हिंदी की कोई जमीन नहीं रही, भोजपुरी, कुमायूंनी, कन्नौजी, मगही, छत्तीसगढ़ी, मेवाड़ी, नीमाड़ी जाने कितनी जमीनें उभर रही हैं, हिंदी के नीचे से उसकी जमीन खिसकती जा रही है। शायद हिंदुस्तान के नीचे से ही जमीन खिसक रही है, नहीं तो संस्कृत उत्तर प्रदेश में बहुत ही घटिया राजनीति की शिकार न होती, उत्तर प्रदेश सरकार ईमानदार होती तो पहले तमिल, बंगला, गुजराती, मराठी, असमिया, उड़िया और मणिपुरी, आओ(नगा भाषा), नेपाली भाषाओं के शिक्षक उचित मात्रा में तैयार करती और तब सुनियोजित ढंग से रुचि के अनुसार और देश की आवश्यकता के अनुसार दूसरी भाषा की शिक्षा की व्यवस्था करती। त्रिभाषा में स्वयं केवल संस्कृत के शिक्षकों की सामूहिक भर्ती करके एकाएक संस्कृत को उस सूत्र से बहिष्कृत न करती, वह भी इस तुर्रे के साथ कि संस्कृत को १० प्रतिशत से बढ़ाकर हमने २५ प्रतिशत अंक दे दिए (जो १०० अंक का पूरा

विषय खा गए, उसकी कोई चर्चा नहीं)।

सिंहासन से अब कोई आशा नहीं, क्योंकि सिंहासन का नक्शा अभी से स्पष्ट है। वह सिंहासन जोड़-तोड़ का सिंहासन होगा, आदर्श उसको चंवर डुलाएंगे, और देश कहीं दूर अरण्य में, काटे जाते अरण्य में, दूषित होते समुद्रतट पर, किसी रेत होती कच्छ की खाड़ी में बिसूरता रहेगा कि कब मुझे इंद्रपुरी का बुलावा मिलेगा।

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने कहा था, 'मेरी झांसी मुझे वापस चाहिए।" मैं भी हिंदी के लेखक की हैसियत से यही मांगता हूं कि मेरा तो कोई प्रदेश नहीं, कोई वर्ग नहीं, मजहब नहीं, सिर्फ एक देश है, उसे वापस लाओ। बंद करो यह ढोंग कि हिंदी सम्पर्कभाषा है। सारा राजकाज अंग्रेजी में, फारसी में या लैटिन में चलाओ! हिंदी के विकास के मालिको, हिंदी को जीने दो, छूछे सम्मान का जहर न दो, हिंदी को, देश को वापस बुलाने का अवसर दो।

विश्वविद्यालय की स्वायत्तता का उद्देश्य

इसके पहले कि हम स्वायत्तता के ऊपर विचार करें विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्य पर ही सबसे पहले विचार करना चाहिए। इस विषय पर विचार करते समय मन में कुछ प्रश्न उठते हैं। पहला प्रश्न यह है कि विश्वविद्यालय शिक्षा कितनी दूर तक और किस रूप में सामाजिक परिवर्तन या मूल्य परिवर्तन के साथ बांधी जा सकती है। प्राय: एक झटके में यह कहकर कि विश्वविद्यालय शिक्षा स्नातक को आधुनिक नहीं बना रही है, प्रगतिशील नहीं बना रही है, नये परि-वर्तन को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं बना रही है, पुराने मूल्यों के प्रति निर्मम नहीं बना रही है, इसलिए यह सामाजिक परिवर्तन में बाधक है, विश्व-विद्यालय शिक्षा को ही अप्रासंगिक घोषित कर दिया जाता है। विश्वविद्यालय शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो सामाजिक परिवर्तनों में गति लाये। इस दृष्टि में एक अतिशय का खतरा यह भी है कि सामाजिक परिवर्तनों का निर्णय यदि विश्वविद्या-लय के बाहर की कोई संस्था करती है और वह संस्था तात्कालिक दृष्टि रखकर ही नारे के रूप में कोई निर्णय करती है तो इससे विश्वविद्यालय शिक्षा को बांधने से यह भी हो सकता है कि किसी गलत निर्णय के प्रतिरोध के लिए कहीं कोई बौद्धिक आधार भी न रह जाय। कुछ इसी प्रकार के आवेश में ऐसे भी सुझाव आये हैं कि विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम में २० सूत्रीय कार्यक्रम रख दिया जाय या परिवार-नियोजन रख दिया जाय या इन तात्कालिक प्रश्नों से प्रेरित या तात्कालिक लाभ से प्रेरित मौसमी विचारों की कोई पुस्तक रख दी जाय। और दो साल बाद राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन होते ही इन विचारों को पाठ्यक्रम से बाहर निकाल दिया जाय। विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए इस प्रकार का परिवर्तन बहुत भयावह है। यहां तक कि टेक्नालाजी भी, जो तात्कालिक आवश्यकताओं से प्रेरित होती है, तब तक अच्छी तरह नहीं विकास कर सकती जब तक दूर-दृष्टि से उसके

लिए कोई सैद्धांतिक पीठिका न तैयार की जाय। विश्वविद्यालय शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से बाहर न होते हुए भी उस प्रक्रिया पर एक निस्संग दृष्टि रखने के लिए होती है और इसी कारण शिक्षा नीति के संबंध में स्वायत्तता का मूल्य होता है। भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा की विडंबना सबसे बड़ी यही रही है कि वे केवल दूसरों से लिये हुए सांचे में ईंट ढालने का काम करते रहे हैं। अपना सांचा स्वयं हम भारतीय बनायें, यह पहले विदेशी शासकों को मंजूर नहीं था। इसके बाद स्वतंत्र होने के बाद अपने स्वदेशी शासकों को भी यह केवल इस रूप में ग्राह्य था कि कहो जरूर कि हम अपना सांचा बना रहे हैं, पर सांचा वैसा हो, जो किसी न किसी पश्चिमी सांचे से मेल रखता हो, उसमें दो-एक फूल-पत्ती अपनी चाहे काढ़ लो। इसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि अपना सांचा तो बना नहीं, जो विदेशी सांचा था वह भी बहुत कुछ टूट गया। अब हम उन्हीं अध-टूटे सांचों में ईंट ढालते चले जा रहे हैं। और बाद में यह शिकायत कर रहे हैं कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है। आज के विश्वविद्यालयों के स्नातकों का वह स्तर न रहा जो पुराने मैट्रिक पास लोगों का होता था, न उनका उतना सलीका रहा जो पुराने ग्रेजुएटों में था और हम यह नहीं सोचते कि वस्तुतः विश्वविद्यालय का काम ही यह नहीं है, सांचे में विद्यार्थियों को ढालना; उसका काम है हर विद्यार्थी के भीतर एक समानांतर सांचा बनाने की जो संभावना है, उस संभावना को विकसित करना। विश्वविद्यालय शिक्षा में पाठ्यपुस्तक केवल बहाना होती है। उसके बहाने ज्ञान में रुचि उत्पन्न करना, मनुष्य के भीतर सांस्कृतिक आकांक्षा जगाना, मनुष्य की सांस्कृतिक यात्रा से उसको जोड़ना, सत्य की खोज की जानकारी देते हुए वह खोज पूरी नहीं हुई है, यह भावना मन में भरना और तर्क, बुद्धि का विकास करते हुए भी दूसरे के तर्क को सुनने की तितिक्षा उत्पन्न करना और यदि वह तर्कसंगत हो तो उसे स्वीकार करने का खुलापन विकसित करना, आस-पास और दूर के दोनों प्रकार के समाज के प्रति उदार भाव उत्पन्न करना, यह सब विश्वविद्यालय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

विश्वविद्यालय शिक्षा का दूसरा उद्देश्य यह है कि उसका स्नातक अपने को अभिव्यक्त करने का एक माध्यम पाये। इसलिए विश्वविद्यालय शिक्षा में पहले इतिहास, साहित्य, दर्शन पर विशेष बल रहता था। विश्वविद्यालय तात्कालिक प्रश्नों से कतराने के लिए नहीं है किंतु उनके दबाव से विवेक को धूमिल करने के लिए भी नहीं है। इसलिए विश्वविद्यालय समाज के भीतर रहते हुए समाज को सोचने-समझने में अपने में स्वतन्त्र प्रयोगशाला होता है, जो समाज के भावी स्वरूप की भी कल्पना करते समाज की अच्छाई-बुराई की इस प्रकार समीक्षा करता है कि आज की दी हुई परिस्थितियां न होने पर भी परिवर्तन के अधिक कल्याणकारी होने के लिए क्या उपाय हो सकते हैं। इस पर विचार करना विश्वविद्यालय

शिक्षा के लिए अधिक सार्थक होगा। इसीलिए विश्वविद्यालय में ऐसी शिक्षा के सहकारी के रूप में तात्कालिक प्रश्नों पर खुली बहस, परिसंवाद, व्याख्यान जैसे कार्यक्रम आयोजित करना आवश्यक हो जाता है। इससे ज्ञान की प्रखरता बढ़ती है पर केवल यही चीजें पाठ्यक्रम नहीं हो सकतीं। यह पाठ्यक्रम के सहकारी उपकरण के रूप में तो बहुत अच्छी हैं, पर पाठ्यक्रम अधिक सर्वग्राही और सर्वव्यापक होना चाहिए। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम देश-काल से परे हो, केवल इतना है कि सीमित देश-काल से परे भी सोचने की प्रेरणा देने वाला होना चाहिए, तभी वह छोटे से छोटे देश-काल को समझने में अधिक सार्थक हो सकता है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्य के बारे में दूसरा सवाल यह उठता है कि वह रोजगारपरक होनी चाहिए या नहीं। क्या विश्वविद्यालय शिक्षा बेकारी की अवधि के विस्तार के लिए है या स्नातक को ऐसा बना देने के लिए है कि कुछ इने-गिने धंधों में योग्यता पा सके और शेष में तभी जाय जब लाचारी हो, ऐसे धंधों में न जा सके जिनमें उसकी सफेदपोशी को खतरा हो? उदाहरणार्थ स्नातक कोयला-खदान में मजदूरी करने से, खेत में काम करने से, गोपालन से हिचके तो निश्चय है कि उसके लिए धंधों का चुनाव एक दायरे में सीमित हो जायेगा। तब वहां वह जिस संसार में प्रवेश करेगा कड़ी होड़ होगी, जिसमें से गुजरकर या तो वह अत्यंत नृशंस बन सकता है या दूसरों से बार-बार ढकेले जाकर हार-थककर टूट सकता है। इसके लिए बार-बार सुझाव दिये जाते हैं कि विश्वविद्यालय शिक्षा को व्यवसाय से जोड़ना चाहिए और विश्वविद्यालय में ही विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के लिए प्रशिक्षण का कार्यक्रम चलाना चाहिए। यहीं प्रश्न उठता है कि विश्वविद्यालय कितने भी प्रशिक्षण का कार्यक्रम चलायें, क्या वे विश्वविद्यालयों में आने वाली विशाल भीड़ के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता और रुचि के अनुरूप व्यावसायिक प्रशिक्षण दे सकते हैं? दुःख की बात यही है कि विश्वविद्यालयों में प्रवेश करते ही रुचि सीमित हो जाती है। एक प्रकार से विश्वविद्यालय शिक्षा यह गलत आकांक्षा पैदा करती है कि शिक्षाप्राप्त व्यक्ति दूसरों से अधिक शिक्षित है और इसके नाम पर अधिक सुविधाएं पाने का उसे अधिकार है। उसका जीवन-स्तर कुछ दूसरे प्रकार का हो जाता है। जब विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वालों की संख्या कम थी और सुविधा प्राप्त परिवारों के बच्चे ही विश्वविद्यालय में जाते थे, तब यह बात गलत होते हुए भी समझ में आ सकती थी क्योंकि तब जो विश्वविद्यालय में शिक्षा नहीं प्राप्त कर रहे थे, वे विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वालों के अवसरों के भी आकांक्षी नहीं थे किंतु आज स्थिति में परिवर्तन आ गया है और आज न केवल शहरों के, न केवल गांवों के बड़े घरों के लड़के ही बल्कि सभी स्थानों और सभी वर्गों के लड़के विश्वविद्यालय में शिक्षा

प्राप्त कर रहे हैं, वे यदि उसी प्रकार की सफेदपोशी की तमन्ना लेकर विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते हैं तो समाज का शिक्षा के आधार पर दो खंडों में विभाजन हो जाता है और मनुष्य का तालमेल तोड़ देता है। इसलिए विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध मे और शिक्षा के उद्देश्य पर विचार करते हुए इस पर गहराई से सोचने की जरूरत है कि व्यावसायिक शिक्षा देने से अधिक आवश्यकता इस बात की है कि विश्वविद्यालय शिक्षा को सामान्यपरक बनाया जाय। कुछ लोग इसका एक अव्यावहारिक उत्तर दे सकते हैं कि विश्वविद्यालय को प्राचीन युग का आश्रम या गुरुकुल बना दिया जाय या आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाने वाली गांधीवादी पाठशाला बना दी जाय। किंतु हम भली भांति जानते हैं कि प्रयोग चलाये गये और उनके परिणाम बहुत अच्छे नहीं रहे। गुरुकुल के प्रकार की संस्थाओं ने आत्मविश्वास के बजाय कुंठा अधिक जगायी। आश्रम, गुरुकुल या विद्यापीठ आदर्श से प्रेरित संस्थाएं थीं इसमें संदेह नहीं, किंतु जब तक समाज उस आदर्श को एक औपचारिक मूल्य भर देने को तैयार है तो उस आदर्श की प्रेरकता संदिग्ध हो जाती है। हम २० वर्षों से प्रारंभिक और माध्यमिक स्तर पर आदर्श-प्रेरित बेसिक शिक्षा की जो अधोगति देख रहे हैं, उससे एक बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि जब तक सुविधा प्राप्त वर्ग के लिए आलीशान विद्यालय होंगे, जिनके लिए मध्यवर्गीय वित्त का व्यक्ति भी अपना पेट काटकर अपने बच्चे के लिए लालायित होता रहेगा और साधनहीन लोगों के लिए एक अलग कोरी आदर्शवादी कल्पना साकार होती रहेगी, तब तक इस प्रकार की आदर्श-प्रेरित उच्च शिक्षा की संस्थाएं अपना कोई प्रभाव समाज पर नहीं छोड़ सकतीं और न अच्छे मस्तिष्क के विकास में सहायक हो सकती हैं। आज मानसिक विकास के लिए सोद्देश्यता और गौरव का भाव आवश्यक है। जब बेसिक शिक्षा में परिवर्तन किया गया तो आशा थी कि इससे क्रांति होगी, केवल साक्षर बच्चे ही नहीं, जीवन को झेलने में समर्थ बच्चे निकलेंगे। परिणाम ठीक उल्टा हुआ; वे साक्षर तो हुए पर जीवन को झेलने में असमर्थ साबित हुए। साक्षरता और मार्ग की प्रशस्तता उनके पल्ले पड़ी जो सफेदपोश स्कूलों में ऊंची फीस देकर पढ़ते हैं, जिन्होंने सूत नहीं काता, बागबानी नहीं की, स्कूल की लिपाई-पोताई नहीं की, जो हंसते-खेलते विश्व का ज्ञान प्राप्त करते रहे। धुले कपड़ों में, लक-दक धुली भाषा में बातचीत करते प्रेम भाव से पलते रहे. उस विभाजन का ही यह परिणाम है कि पढ़ाने की सारी कुशलता, सारी विधियां थोड़े-से स्कूलों में सिमट गयीं और आधुनिकता के नाम पर अंग्रेजियत भी उन्हीं में सिमट गयी, शेष स्कूलों में हिंदुस्तानियत के नाम पर बच गयी उपेक्षा—शिक्षकों की, छात्रों की एक-दूसरे के प्रति और जीवन के प्रति, ऐसी हिंदुस्तानियत जो अपनी ही सूरत न पहचान सके और एक बेगानी सूरत के लिए तरसती, तड़पती और जलती रहे।

इसलिए इसके पहले कि विश्वविद्यालय शिक्षा को सामान्य करने की बात सोची जाये और स्नातक के मन में सामान्य बनने का भाव जगाया जाये, आवश्यक है कि पहले की सामान्य और विशेष शिक्षा का भेद मिटा दिया जाये। आज से २५-३० वर्ष पहले जब ऐसे सफेदपोश विद्यालय केवल राजाओं के लिए या अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थे तब सफेदपोश लड़कों को मैले लड़कों के पास बैठने में शरम नहीं आती थी और न सत्रह रुपया प्रतिमास पाने वाले मुदर्रिस के मन में कुण्ठा का भाव होता था। उन्हीं स्कूलों में शिक्षा पाने वाले बड़े-बड़े विचारक, वैज्ञानिक, राजनीतिक नेता और लेखक भी उत्पन्न हुए। वह सामान्य शिक्षा थी। वह न बेसिक थी, न मांटेसरी, न कान्वेंट। फिर वहीं से सामान्यीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ की जाये और उन सामान्य शिक्षकों को भी विश्वास दिया जाये, सीमित साधनों से इन विद्यालयों को जितना संपन्न किया जा सकता है किया जाये और साधन संपन्न स्कूलों को विवश किया जाये कि वे बिना फीस लिये अपना स्तर कायम रख सकते हों तो रखें और सभी वर्गों के लिए प्रवेश का द्वार खोलें।

सामान्यीकरण का एक दूसरा पक्ष यह भी है कि सामान्य जीवन और सामान्य जन के परिवेश, उसके रीति-रिवाज, उसके विश्वास और उसकी सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति इन सबका भी ज्ञान प्राथमिक से उच्चतम स्तर तक क्रमिक रूप से प्राप्त कराने की योजना होनी चाहिए जिससे विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने वाला जानता रहे कि अधिसंख्य निरक्षर जनता के पास भी एक ऐसी सांस्कृतिक संपन्नता है जो ग्रहण करने की वस्तु है और ऐसी साक्षरता जो उस संस्कार से आदमी को काट दे, एक विडंबनापूर्ण साक्षरता बन जाती है। यह बात सामान्य पाठ्यक्रम द्वारा उतनी दूर तक नहीं बतायी जा सकेगी, जितनी राष्ट्रीय सेवा योजना को नये मोड़ देने से ही सिखलायी जा सकेगी बशर्ते राष्ट्रीय सेवा योजना प्रदर्शन और फोटो खिंचवाने की योजना न हो। यह गांवों के जीवन में एकाकार हो, उनके अच्छे और ऊंचे संस्कारों से भावित होकर उनके साथ आगे बढ़ने की योजना बनाये। यदि ये बातें अमल में लायी जा सकें तो शिक्षा के रोजगारपरक होने का सवाल नहीं उठता।

इसके अलावा इस पर भी गहराई से सोचने की बात है कि प्रत्येक स्नातक, जिस क्षेत्र में उसने अल्पकाल तक राष्ट्रीय सेवा योजना में कार्य किया है, उसमें एक वर्ष तक प्रौढ़ शिक्षा सेवा में लगे और उसके लिए उसे निर्वाह भत्ता दिया जाये। उसके अनंतर ही वह किसी भी सेवा के लिए अर्हता प्राप्त करे तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में प्रवेश प्राप्त कर सके। इससे एक लाभ यह होगा कि जीवन के यथार्थबोध का एक अवसर मिलेगा और उसके बाद उच्चतम शिक्षा के प्रयोजन की उसको सही-सही पहचान होगी। स्नातकोत्तर कक्षा में प्रवेश के लिए अंक-प्राप्ति से अधिक रुचि, सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति तथा अध्ययनशीलता की परीक्षा

आवश्यक है। इस परीक्षा का क्या स्वरूप हो, इस पर अवश्य गहराई से विचार करना होगा। किंतु जब तक उन पर कड़ा नियंत्रण नहीं होगा, तब तक स्नातकोत्तर शिक्षा का कोई रचनात्मक उपयोग नहीं हो सकेगा। वह केवल एक प्रतीक्षालय का काम करेगी। स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद ही व्यावसायिक प्रशिक्षण खुले होने चाहिए, बहुत दूर तक आज भी खुले हैं और उसकी अवधि अधिक करनी चाहिए और व्यावसायिक शिक्षा के प्रायोगिक पक्ष पर अधिक बल देना चाहिए, जिससे कि यह शिक्षा प्राप्त करने वालों का सही-सही विनियोग विभिन्न व्यवसायों में हो सके। स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध के दो ही विनियोग हैं, उच्चतम शिक्षा में शिक्षक का काम, शोध का काम, मौलिक लेखन का काम, मौलिक चिंतन का काम या इस प्रकार का अन्य कोई वैदुषिक काम और चूंकि इन क्षेत्रों में अवसर सीमित हैं, इसलिए यह शिक्षा के अवसरों के उपयोग भी उपयुक्त व्यक्तियों तक ही सीमित रहने चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि स्नातक स्तर तक की शिक्षा की परीक्षा के प्रबंध के लिए महाविद्यालय स्वतंत्र हों। वे अपनी परीक्षा-पद्धति निर्धारित करें। व्यावसायिक शिक्षा की परीक्षा के लिए ऐसा प्रबंध, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें संबद्ध व्यवसाय के संबद्ध विभागीय अधिकारी या उनके प्रतिनिधि संबद्ध हों ताकि वे ठीक-ठीक व्यवसाय की अपेक्षा के अनुसार परीक्षा की विधि निर्धारित कर सकें और उस परीक्षा से निकले लोगों को रोजगार की गारंटी दे सकें। स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध विश्वविद्यालय के अधीन होना चाहिए और इनकी परीक्षा-प्रणाली में इस प्रकार सुधार करना चाहिए कि निरंतर काम की अनौपचारिक परीक्षा होती रहे और अनौपचारिक परीक्षा का स्वरूप कुछ ऐसा हो जैसा कि बहुत-से अमेरिकी विश्वविद्यालयों में प्रचलित है अर्थात् प्रत्येक स्नातकोत्तर परीक्षा के विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती है कि वह नियत पाठ्यक्रम की निश्चित इकाइयों में कम से कम ५० प्रतिशत या 'बी' ग्रेड प्राप्त कर लें। उसके पाठ्यक्रम के दो अंश हों—एक अनिवार्य और दूसरा वैकल्पिक, और विकल्पों का चयन स्नातकोत्तर परीक्षा के अनंतर जिस शोध कार्य को लेने की इच्छा विद्यार्थी ने प्रकट की हो, उसको ध्यान में रखकर किया जाए। इसके साथ ही उसमें ऐसे सेमिनार पाठ्यक्रमों का भी समावेश किया जाय, जिसमें बारी-बारी से छात्र निश्चित विषयों पर निबंध पढ़ें और दूसरे छात्र उसकी समीक्षा करें और अध्यापक केवल उसे मोड़ देने और संगत रखने का कार्य करें। पाठ्यक्रम पूरा करने की कोई अवधि निश्चित न हो, चाहे दो वर्ष या उससे अधिक समय में छात्र उसे पूरा करें। इसके अनंतर जब वह अंतिम औपचारिक परीक्षा के लिए प्रस्तुत हो तो परीक्षा की तिथि निश्चित की जाए। विषयाध्यापक तथा संबद्ध विषय के अध्यापक मिलकर प्रश्नपत्र बनाएं और पुस्तकालय में बैठकर उत्तर लिखने का अवसर छात्र को दिया जाए। जो अध्यापक प्रश्नपत्र बनाएं, वे ही उत्तर

का मूल्यांकन करें और मौखिक परीक्षा की तिथि निर्धारित करें। प्रत्येक छात्र की एक घंटे तक मौखिक परीक्षा हो, तब ५० प्रतिशत अंक या न्यूनतम 'बी' ग्रेड पाने वाले छात्र को उत्तीर्ण घोषित किया जाय। इस प्रकार अपने-आप शोध में प्रवेश करने वालों की संख्या सीमित हो जाएगी और शोध का गुणात्मक मूल्य बढ़ जाएगा। वह केवल उपाधि के लिए शोध नहीं होगा। पश्चिम के विश्वविद्यालयों में जिन्हें विद्याव्यसन होता है, वे ही शोध में लगते हैं और जीवन की सुविधाओं का त्याग करके लगते हैं। उनमें से जो विश्वविद्यालय सेवा में आने का अवसर पा जाते हैं, वे आठ वर्ष तक कसौटी पर रहते हैं। आठ वर्ष इनके कार्य का परीक्षण होता है और आठ वर्ष तक कार्य करने के पहले या ४० वर्ष की अवस्था के पहले शायद ही कोई विश्वविद्यालय सेवा में स्थायी हो जाए। आशय यह है कि यह परीक्षण विश्वविद्यालय के ही शैक्षणिक प्राधिकारी द्वारा होना चाहिए न कि उसके बाहर। बाहर से विशेषज्ञ बुलाकर जो चयन की पद्धति गत २०-२२ वर्षों से इस देश में चली है, वह बहुत ही विफल साबित हुई है। पहले से अधिक व्यय होने लगा है, राजनीति का अधिक समावेश हो गया है और पहले से अधिक घटिया चयन हो रहा है। विश्वविद्यालय सेवा के लिए चयन उसी विश्वविद्यालय के संबद्ध विभाग के वरिष्ठ अध्यापकों की संस्था द्वारा होना चाहिए, क्योंकि वे ही विभाग की आवश्यकता को समझ सकते हैं, व्यक्ति को परख सकते हैं और व्यक्ति विभाग में ठीक तरह से बैठ सकेगा या नहीं, यह तय कर सकते हैं। स्थायित्व के लिए जब अध्यापक आठ वर्ष तक तपस्या कर लेता है तो इतना परिश्रम का आदी हो जाता है कि आगे भी साधना कम नहीं होती। एक प्रश्न उठता है सेवा की असुरक्षा के कारण मानसिक परेशानी का और कहा जा सकता है कि मानसिक परेशानी में ऊंचे स्तर का कार्य नहीं होगा, पर यदि स्थायित्व का निर्णय करने वाले भीतर के ही लोग हों तो परेशानी की बात नहीं उठती, परेशानी की बात तभी उठ सकती है जब अध्यापक मेहनत न करे। और सहयोग की भावना न रखे।

प्रायः विश्वविद्यालयों के शिक्षा के स्तर और शोध के स्तर की आलोचना लोग करते हैं और खिल्ली उड़ाते रहते हैं, पर कोई नहीं सोचता कि विश्वविद्यालय के अध्यापक उसी से काम करा सकते हैं, जिसमें काम करने की क्षमता हो और यदि वे विवश होकर किसी से भी काम करायें तो इस स्तर तक गिरना अनिवार्य है। विश्वविद्यालय स्तर को यदि मात्रा से नापा जाएगा तो अवश्य अवमूल्यन होगा किंतु यदि इससे नापा जाए कि उसने ५-१० वर्ष में सोचने का कोई नया ढंग दिया है या नये ढंग से सोचने वाले को आगे बढ़ाया है या सोचने के तरीके पर ही कोई नया प्रश्न उठाया है तो इतने से ही विश्वविद्यालय की शिक्षा कृतकृत्य मानी जानी चाहिए। यदि इस दृष्टि से समीक्षा की जाए तो भारतीय विश्वविद्यालयों का कीर्तिमान बहुत गौरवहीन नहीं है, हां, संख्या में वह जरूर घटिया स्तर

की है।

शोध में भी जो जीवन का रस पा सके और जो जीवन के रस से उसे जोड़ सके, उसी व्यक्ति का शोधकार्य महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जो पहले स्नातकोत्तर शिक्षा की विधि सुझायी गयी है, वह अपनायी जाए और इसके साथ-साथ शोध-कार्य को उच्चतर बनाये रखने के लिए निर्देशन का संयुक्त दायित्व रखा जाए। निर्देशकों में एक व्यक्ति ऐसा हो, जो विषय से साक्षात् संबद्ध हों और एक ऐसा जो आनुषंगिक विषयों के अध्यापक हों। इससे छात्र के मस्तिष्क के क्षितिज का विस्तार होगा, दृष्टि संतुलित होगी, परिप्रेक्ष्य अधिक व्यापक होगा। इस समय शोध में भिन्न विषयोंके अंतरवलम्बन पर बल देना शुरू हो गया है, पर उसको ठीक तरह से कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रत्येक विभाग की शोध-समिति ऐसी होनी चाहिए कि सभी विभागों का प्रतिनिधित्व हो, इससे शोध में अधिक खुला-पन आयेगा, वह रुंधा नहीं रहेगा। शोध के लिए आकांक्षा स्नातकोत्तर अध्ययन की अवधि में ही जगानी चाहिए, तभी उसकी परिधि, प्रविधि, पुस्तकालय का उपयोग, संदर्भ उल्लेख, विश्लेषण, विधि छात्र में आ जाती है। अलग पाठ्यक्रम की अपेक्षा इसे स्नातकोत्तर शिक्षा में आत्मसात् करके रखा जाय तो अधिक उचित होगा।

इस प्रकार की व्यवस्था में एक बात आवश्यक है कि शोध और शिक्षण में एक अंत:संबंध होना चाहिए। इसका व्यावहारिक रूप यह है कि प्रत्येक विश्व-विद्यालय का पाठ्यक्रम किसी न किसी रूप में स्वतंत्र हो और ऐसा होना ज्ञान के विकास के लिए आवश्यक है। एकरूपता विश्वविद्यालय के विकास में अव-रोधक होगी, साधक नहीं। एक सांचे में सभी विश्वविद्यालय ढाल दिये जाएं तो अन्वेषण सीमित हो जाएगा। हर विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम बनाने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। वह पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए कि वहां किये जाने वाले शोध-कार्य के अनुरूप हो। कुछ बातें समान होंगी, पर विश्वविद्यालय शिक्षा सामान्य और विशेष दोनों को एक-दूसरे को उपयोगी बनाने को है। भारत में इतने अधिक विश्वविद्यालय हैं कि उनके कार्य के समायोजन के लिए एक विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग पर्याप्त नहीं है। कई क्षेत्रीय अनुदान आयोग होने चाहिए, तभी सुव्यवस्थित समायोजन हो सकता है और विश्वविद्यालयों का स्वतंत्र विकास हो सकता है।

विश्वविद्यालय शिक्षा की स्वायत्तता की बात करते समय एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है—विश्वविद्यालय प्रबंध में और शिक्षा व्यवस्था में छात्रों के सम्मिलित करने का प्रश्न। छात्रों को सम्मिलित करने पर कोई विशेष वैमत्य अब नहीं है, वैमत्य इस प्रश्न पर है कि किस प्रकार का और किस स्तर का छात्र और किस विधि से व्यवस्था-समितियों में प्रतिनिधि बनाया जाए। यदि निर्वाचन

के आधार पर यह न किया जाए तो अप्रजातांत्रिक माना जाता है और यदि केवल निर्वाचन पर किया जाए तो यह शिक्षा के गुणात्मक स्तर की अभिवृद्धि में कभी बाधक भी हो सकता है। इस पर भी वैमत्य नहीं है कि विद्यार्थी राजनीतिक चेतना से प्रतिबद्ध हों पर उनके और अध्यापक के बीच विरोध के अस्त्र के रूप में उसका प्रयोग चिंता की बात है। विचार की स्वाधीनता दोनों को है पर चूंकि छात्र को कुछ सीखना है, अध्यापक को कुछ सिखाना है, इसलिए राजनीतिक मतभेद के आधार पर यदि छात्र अध्यापक का अकारण विरोध करते हैं तो इस पर नियंत्रण होना चाहिए। यह नियंत्रण आज की परिस्थितियों में असम्भव है, क्योंकि जो विरोध करते हैं, वे अधिकांश किसी बाहरी शक्ति की मदद से विरोध करते हैं। जबतक कि राजनीतिक दल और विशेष रूप से सत्तारूढ़ राजनीतिक दल विद्यार्थी और अध्यापक के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायेगा, तब तक इस प्रतिदिन के तनाव की समस्या हल नहीं होगी और तब तक कोई भी स्वायत्तता का कानून बना दिया जाए, वह कारगर नहीं होगा।

विश्वविद्यालय के हित में इसलिए आवश्यक होगा कि विश्वविद्यालय व्यवस्था में छात्र का प्रतिनिधित्व निर्वाचन द्वारा हो पर निर्वाचन में खड़ा होने की अर्हता विद्यार्थी के शैक्षिक कीर्तिमान के आधार पर निर्धारित हो और छात्र-राजनीति पेशा न बनने पाये। इसके रोकने के लिए निर्वाचन इस प्रतिबंध से निर्धारित हो कि अधिक से अधिक विश्वविद्यालय में तीन वर्ष निरंतर पढ़ाई में और पढ़ाई के अतिरिक्त कार्यों में अच्छा कीर्तिमान रखने वाले ही निर्वाचन की अर्हता रखेंगे और चार वर्ष से अधिक विश्वविद्यालय में समय बिताने वाले अनर्ह होंगे।

विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के बारे में चौथा सवाल यह उठता है कि विश्वविद्यालय के ऊपर किस प्रकार का नियंत्रण हो कि उसकी स्वायत्तता सुरक्षित रह सके। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयों की संख्या वृद्धि को देखते हुए नियंत्रण का केंद्रीकरण किसी एक अधिकारी में होता है तो यह स्वाभाविक है कि ऐसे लोगों द्वारा विश्वविद्यालय के मामलों की प्रारंभिक छानबीन होगी, जो उसकी कार्यविधि और उसके प्रयोजन से अनभिज्ञ होंगे और उनकी छानबीन ही अधिकारी के निर्णय का आधार होगी। यह स्थिति दो कारणों से बड़ी शोचनीय है, एक तो इसमें निर्णय बहुत विलंब से होता है, दूसरे इसमें निर्णय विश्वविद्यालय की विशिष्ट परिस्थिति को ओझल रखकर के होने की संभावना रहती है। इसके अलावा इसमें एक खतरा यह भी रहता है कि शिकायतों और जवाबों में ही उस अधिकारी का अधिक समय चला जाए, विश्वविद्यालयों के विकास की ओर दृष्टि कम जाए। इन समस्याओं के दो प्रकार के समाधान हो सकते हैं—नियुक्ति और अध्यापकीय अनुशासन से संबद्ध प्रश्नों पर विचार-विमर्शपूर्वक निर्णय लेने के लिए एक अध्यापक परिषद् प्रेस कौंसिल के समानांतर गठित हो और उसी की राय पर कुला-

धिपति निर्णय करें। इस परिषद् में एक निश्चित अवधि के अनुभव वाले प्रत्येक श्रेणी के अध्यापकों का प्रत्येक विश्वविद्यालय से प्रतिनिधित्व हो, इनके अलावा इनमें विश्वविद्यालयों की विद्यापरिषदों के समस्त सदस्यों द्वारा तीन चौथाई बहुमत से निर्वाचित अवकाश प्राप्त शिक्षाविद् आचार्यों का प्रतिनिधित्व हो। इस परिषद् का अध्यक्ष कुलपतियों में से एक ऐसा कुलपति हो, जो कम से कम दो वर्ष तक कुलपति के पद पर कार्य कर चुका हो और उसका कार्यकाल एक वर्ष से अधिक न हो। अध्यापक परिषद् के भी सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष का हो। दूसरी अध्यापक परिषद् हो, जिसमें प्राचार्यों का भी प्रतिनिधित्व हो। जहां तक कि विश्वविद्यालयों के विकास कार्यों तथा उनके विधान एवं नियमों में परिवर्तन के विषय में सभा या कुलाधिपति को सलाह देने का प्रश्न है, उसके लिए भी एक स्वतंत्र संस्था स्थापित की जानी चाहिए, जिसमें शिक्षाविद्, न्यायवेत्ता और शिक्षा प्रशासन के अनुभवी अधिकारी सदस्य हों। सचिवालयीय यंत्र-जाल से इस प्रकार बाहर किये बिना विश्वविद्यालयों की देखरेख का कार्य ठीक नहीं चलाया जा सकता।

अंत में अब हम स्वायत्तता के मुख्य उद्देश्यों को इस प्रकार परिभाषित करना चाहेंगे :

(१) विश्वविद्यालय की स्वायत्तता इसलिए अपेक्षित है कि वह उच्च शिक्षा को निरंतर ज्ञान साधना के रूप में विकसित करे, अपनी दीर्घकालिक योजना के अनुसार वह पाठ्यक्रम बनाने, शोध-कार्य चलाने और शैक्षिक नियुक्ति करने के लिए स्वतंत्र हो।

(२) एक विश्वविद्यालय दूसरे विश्वविद्यालय का पूरक हो, न कि उसी के विशिष्ट कार्य का पुनरावर्त्तक, जिससे देश की सीमित साधन-सामग्री से अधिक से अधिक दिशाओं में उच्च ज्ञान का विकास संभव हो सके। इसके लिए यह तो आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के कार्यों के समायोजन के लिए समिति हो पर वह समिति केवल इतना देखे कि व्यर्थ की पुनरावृत्ति शोध के क्षेत्र में तो नहीं हो रही है और जो कार्य एक जगह हो चुका है उसका लाभ उठाते हुए दूसरी जगह नया कार्य कैसे होगा, इसके लिए प्रत्येक विषय की समायोजन उपसमिति भी गठित करनी होगी।

(३) विश्वविद्यालय शिक्षा का उद्देश्य सर्जनात्मक है, इसलिए इसमें न केवल चिंतन की नई दिशा की ओर अग्रसर करने पर बल होना चाहिए प्रत्युत उस चिंतन की नई सरणि, विश्लेषण के नये सांचों तथा विविध विधाओं के अंतरवलंबन के नये आयामों के आविष्कार पर भी बल होना चाहिए। इसलिए भी विश्वविद्यालय की स्वायत्तता इस रूप में सुरक्षित होनी चाहिए कि वह अपने यहां की नयी उपलब्धि के आलोक में अपने कार्य का विस्तार कर सके और उस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चयन कर सके अथवा उसके लिए उपयुक्त व्यक्ति स्वयं

तैयार कर सके।

(४) विश्वविद्यालय शिक्षा का उद्देश्य दृष्टि की उन्मुक्तता देना भी है और उस दृष्टि से प्रत्येक विश्वविद्यालय को इसकी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि विभिन्न प्रकार के विचारों, मतों, सिद्धांतों एवं पक्षों से अध्यापकों और छात्रों का परिचय करा सके, केवल प्रतिबंध इतना होना चाहिए, यह परिचय किसी की व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति या दलगत स्वार्थपूर्ति का साधन न बनने पाये। यह परिचय पाठ्यक्रमेतर कार्यक्रमों के द्वारा, सेमिनारों, फिल्म प्रदर्शनों, कला प्रदर्शनों, साहित्य चर्चाओं आदि के द्वारा छात्रों की अध्ययन यात्राओं द्वारा या छात्र-शिविरों द्वारा किया जा सकता है। एक विश्वविद्यालय और दूसरे विश्वविद्यालय से परस्पर अध्यापक विनिमय भी उन्हीं दोनों के बीच किये गये निर्णय के आधार पर हों, तभी वह विनिमय परस्पर लाभप्रद होगा, यदि ऊपर से किसी भी समायोजन संस्था द्वारा ऐसा विनिमय आरोपित होता है तो उससे लाभ की संभावना कम हो जाती है। क्षेत्रीय स्तर पर अध्यापक शिविरों और छात्र शिविरों की भी उपयोगिता है, क्योंकि इनमें अनुभव का आदान-प्रदान होता है।

(५) विश्वविद्यालय में आंतरिक स्वायत्तता भी अपेक्षित है। प्रत्येक विभाग या विभाग समूह को अधिकतर कार्यक्रमों के लिए स्वाधीनता होनी चाहिए, इसके लिए सत्ता का विकेंद्रीकरण अपरिहार्य हो जाता है।

(६) विश्वविद्यालय शिक्षा का सबसे मुख्य उद्देश्य छात्र और अध्यापक में एक ऐसा संबंध स्थापित करना है, जो सत्यान्वेषण में साझीदार का होता है, जो संतान के प्रसव में बच्चे और मां का होता है (प्राचीन गृह्य सूत्रों में आता है कि छात्र जब आचार्य के पास जाता है तो वह कहता है, तुम तीन रात्रियों तक मेरे उदर में रहोगे और नया जन्म लेकर फिर बाहर जाओगे) या जो हवा और सुरभि में होता है। ऐसे गहरे संबंध में किसी तीसरे के आने की आवश्यकता नहीं है। पर आज सबसे अधिक दुःख की बात यही है कि छात्र और अध्यापक के बीच विश्वास इसलिए नहीं कम हुआ है कि वे दोनों दोषी हैं, बल्कि इसलिए कम हुआ है कि एक तीसरा पक्ष है जो इस संबंध पर न्याय-निर्णय सुनाने के लिए बेताब है। तीसरा ही नहीं एक चौथा पक्ष है विश्वविद्यालय के बाहर, जो छात्रों का अपने या अपने दल के हित में विनियोग करने के लिए छात्र-अध्यापक संबंध में विरसता लाने पर तुला हुआ है। विश्वविद्यालय की स्वायत्तता की कल्पना तब तक अधूरी रहेगी, जब तक छात्र-अध्यापक की समस्या को सुलझाने का दायित्व शुद्ध रूप से छात्र-अध्यापक संयुक्त परिषदों पर नहीं छोड़ दिया जाता और उसमें किसी भी प्रश्न पर किसी की ओर से वकालत करने के लिए या हस्तक्षेप करने के लिए किसी भी दूसरे पक्ष को प्रतिषिद्ध नहीं कर दिया जाता। यह प्रश्न काफी उलझा हुआ है और इसका समाधान सभी राजनीतिक दल मिलकर करेंगे, तभी संभव है।

अंत में इतना और निवेदन करना चाहूंगा कि विश्वविद्यालय की स्वायत्तता की शुरुआत भी करनी हो तो उसके लिए विश्वविद्यालय कानून में आमूल परि-वर्तन अपेक्षित है और इस परिवर्तन का निर्णय शिक्षाविदों की सलाह से लिया जाए तभी यह निर्णय अधिक समय तक प्रभावी हो सकेगा।

(गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा
उच्चशिक्षा सम्मेलन के समक्ष प्रस्तुत)

भाषा, लक्ष्य और लक्षण

भाषा शब्द का प्रयोग व्यवहार में कई अर्थों में होता है। लाक्षणिक रूप से लोग इशारों की भाषा, पशु-पक्षियों की भाषा, पुष्पों की भाषा और तारों की भाषा की भी बात करते हैं और तब भाषा शब्द से अभिप्राय परस्पर संबंध स्थापित करने वाले एक माध्यम से होता है। या दूसरे शब्दों में जब हम तारों की भाषा की बात करते हैं तो हम तारों की स्थिति और दीप्ति के अनुसार जो अपने मन में भाव प्रतिबिंबित पाते हैं, उन्हीं को तारों की भाषा कहकर आरोपित कर लेते हैं। भाषा शब्द का व्यवहार कभी-कभी मानवी वाक् के अर्थ में भी होता है और हम इससे किसी भाषा-विशेष का बोध नहीं करते, बल्कि मनुष्य के वाग्यंत्र से जो भी ध्वनियां निकलती हैं, उनकी कुल राशि का बोध करते हैं। इनके अंतर्गत बच्चों की तुतली और अस्फुट वाणी से लेकर परिष्कृत से परिष्कृत भाषा आ जाती है और इस रूप में यह भाषा चाहे माध्यम के रूप में उपयुक्त हो न हो, चाहे किसी समुदाय के व्यवहार की साधन हो न हो, मनुष्य के वाग्यंत्र से निकलती है, इसलिए भाषा है। अंत में बहुत ही सीमित पर वास्तविक अर्थ में भाषा वह है जो किसी विशेष समुदाय की संपत्ति है। यह संपत्ति मूलतः बोले जाने वाले संबद्ध और सार्थक वर्ण-रूपों का समुदाय है, पर गौण रूप से यह लिखित प्रतीकों में भी अभिव्यक्त होती है। भाषा विज्ञान में भाषा शब्द का व्यवहार इस तीसरे अर्थ में ही उसके मूल रूप में किया जाता है। भाषा का व्यवहार पाणिनि की अष्टाध्यायी में उनके समय और देश में बोली जाने वाली एक ऐसी भाषा के अर्थ में किया गया है जो 'छंदस्' या अनुष्ठान के उपयोग में आने वाली स्वतःस्फूर्त भाषा से पृथक् है और पतंजलि के अनुसार इसके शब्द और अर्थ का संबंध लोक से प्रमाणित है। इससे यह सूचित होता है कि इन आचार्यों की दृष्टि में भाषा किसी लोक विशेष के द्वारा स्वीकृत वाचिक प्रतीकों (प्रतीतपदार्थक ध्वनियों) का

समुदाय थी। इनके अनुसार शब्द के अनुशासन करने का तात्पर्य न तो शब्द में नया अर्थ देना था, न नये शब्द का निर्माण करना था, व्याकरण का प्रयोजन अवयवों में धर्म-नियम की व्याख्या करना था, जिससे कि भाषा का स्वरूप ठीक-ठीक समझ में आ सके और भाषा का विश्लेषण (व्याकरण) किया जा सके।

संघटनात्मक भाषाविज्ञान के संस्थापक फर्दिनांद सुसुरे ने इसी को दूसरे शब्दों में यों कहा कि भाषा और मानवी वाक् में अंतर स्पष्ट है। मानवी वाक् एक सामान्य राशि है, जिसका विशिष्ट पर नितांत उपयोगी अंश है भाषा। मानवी वाक् बहुमुखी है, बहुजातीय है और इसका अध्ययन शरीरविज्ञान, समाजशास्त्र भौतिकविज्ञान और मनोविज्ञान तीनों के अंतर्गत आता है। यह जितनी ही व्यक्ति की संपत्ति है उतनी ही समाज की। इसे हम मानवी तथ्यों की किसी वर्गीकृत श्रेणी के अंतर्गत नहीं रख सकते, क्योंकि इसमें हमें एकता नहीं मिलती। इसके विपरीत भाषा स्वयंपूर्ण अखंड वर्गीकृत श्रेणी है। यह वाणी का अर्थात् मानवी वाक् का एक विशिष्ट अंश है। यह स्वयं उद्भूत न होकर अर्जित संपत्ति है। ह्विटनी जैसे पुराने भाषाविद् भाषा को सामाजिक संस्था मात्र मानते थे, यह उनका आग्रह प्रतीत होता है, क्योंकि भाषा दूसरी सामाजिक संस्थाओं से इस माने में भिन्न है कि वह समाज से अर्जित होने पर भी व्यक्ति के ही वाग्यंत्र से निकलती है। इस प्रकार :

(१) भाषा मानवी वाक् का वह रूप है जिसे समाज की स्वीकृति प्राप्त है।

(२) भाषा का हम विश्लेषण कर सकते हैं; सामान्य वाक् का नहीं।

(३) भाषा एक-जातीय है, वाक् अनेक-जातीय, वह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अर्थ और वाक् का संबंध ही केवल आवश्यक है। भाषा और वाक् दोनों मूर्त हैं। भाषा के संकेत मानसिक होने के कारण अमूर्त नहीं हो सकते, उनकी वास्तविकता ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा साक्षात् प्रतीत होती है। पर भाषा की मूर्तता वाक् की अपेक्षा अधिक निश्चित है। इसीलिए उन्हें लिखित संकेतों में रूपांतरित करना भी संभव हो जाता है, जबकि वाक् के रूप को ध्वनियंत्र में चाहे अंकित कर लिया जाए, उसे लिपिबद्ध करना एक सीमा के बाहर असंभव-सा है। भाषा में एक ध्वनि-प्रतिमा का एक निश्चित अर्थ है, उस अर्थ की एक ही अनुभाव्य प्रतिमा है, पर वाक् में प्रत्येक स्तर पर अनेकता ही अनेकता है।

लुई हेल्म स्लेफ ने इस संघटनात्मक परिभाषा को और आगे बढ़ाते हुए यों कहा है कि यह रूप और अर्थ की ऐसी संघटना है, जिसमें दूसरी ऐसी संघटनाओं को अनूदित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना होता है या एक भाषा के भीतर अनेक प्रकार के रूपांतर करने होते हैं, तो जो भी प्रक्रिया होती है, वह प्रक्रिया पूरी संघटना को लेकर

होती है; उसके एक अवयव को लेकर नहीं। उन्होंने इसीलिए भाषा के विवेचन में स्वयं-उद्‌भूत दृष्टि को अधिक महत्त्व दिया है।

अमेरिकी भाषाविज्ञान के जनक लिओनार्ड ब्लूमफील्ड ने भाषा की परिभाषा यों की—वाक् व्यापार ही को उक्ति कहते हैं, एक समुदाय में ऐसी उक्तियां सदृश या कुछ-कुछ सदृश होती हैं। इस प्रकार के समुदाय को एक बोली समुदाय कहा जाता है। इस प्रकार बोली समुदाय में प्रयुक्त उक्तियों के कुल योग को उस बोली समुदाय की भाषा कहा जाता है। भाषा में हम रूप की प्रत्याशा कर सकते हैं। इसीलिए हम कभी-कभी कहते हैं कि शब्द ऐसे बन जाते हैं। ब्लूमफील्ड की परिभाषा के और विस्तार में रूप और अर्थ का विवेचन है और रूप और अर्थ की इकाइयों का भी विवेचन है। ब्लूमफील्ड ने इसे स्पष्ट किया कि भाषा से हमारा तात्पर्य बोली जाने वाली भाषा से है और वह भी औसत आदमी की औसत भाषा से है। भाषा के दो पहलू हैं, एक तो जैव-भौतिक, दूसरा जैव-सामाजिक। जैव-भौतिक पहलू ध्वनि के उत्पादन, संवहन तथा ग्रहण की प्रक्रिया से संबद्ध है और जैव-सामाजिक इस तथ्य से संबद्ध है कि किसी भी समुदाय के व्यक्ति इन ध्वनियों को निश्चित स्थितियों में उत्पन्न करने के लिए तथा दूसरे के द्वारा उत्पन्न किये जाने पर उसके अनुसार क्रियाशील होने के लिए शिक्षित किये जाते हैं। यह शिक्षा परंपरागत होती है और बहुत कुछ यादृच्छिक होती है। उन्होंने भाषा को मानवीय व्यवहार का वह विशिष्ट अंग बतलाया, जो उसे इस माने में अन्य प्राणियों से अलग करता है कि भाषा अपने बोलने वाले व्यक्तियों के बीच एक व्यापक पैमाने पर अत्यंत सूक्ष्म और परिच्छिन्न अंतरवलंबन स्थापित करती है, अन्य प्राणियों में इस प्रकार का अंतरवलंबन इनी-गिनी स्थितियों तक ही सीमित है। मनुष्य के व्यवहार में भाषा एक बहुत बड़ी उत्प्रेरक शक्ति के रूप में काम करती है। भाषा इस प्रकार क्रम और व्यवस्था का ही पर्याय है। क्रम और व्यवस्था का मुख्य प्रभाव यह है कि भाषा का प्रत्येक अर्थवान् रूप एक या एक से अधिक छोटे-छोटे अर्थरहित तत्त्वों से बना होता है। भाषा के इसी अर्थ को नृतत्त्व की दृष्टि से, दूसरे शब्दों में एडवर्ड सपिर ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि भाषा सहजात कार्य नहीं है जैसे कि चलना या उठना या बैठना है। भाषा है अर्जित असहजात संस्कार-प्राप्त व्यापार, यहां तक कि भावावेग में जो ध्वनियां मानवीय व्यवहार में निकलती हैं, वे विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार की हैं। उदाहरण के लिए, घृणा के लिए हिंदी में 'छिः' है, अंग्रेजी में 'उः', विस्मय के लिए हिंदी में 'ओहो' या 'अहा' है, संस्कृत में 'अहो' है। इसी तरह अनुकरणात्मक शब्द भी प्रत्येक भाषा में भिन्न प्रकार के हैं। हिंदी में घोड़े की 'हिनहिनाहट' है, अंग्रेजी में 'नेइङ्' है। हिंदी में चिड़ियों की 'चहचहाहट' है, अंग्रेजी में 'ट्विटर'। इन उदाहरणों से यह प्रतिपादित होता है

कि प्रत्येक समुदाय आवेग या भिन्न मानवेतर ध्वनि के अनुकरण के लिए भी भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि-प्रतिमा का एक संस्कार अर्जित करता है। सपिर ने इस आधार पर भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है—भाषा विचारों, आवेगों और आकांक्षाओं को प्रेषित करने का शुद्ध रूप से मानवीय और संस्कार-प्राप्त माध्यम है। भाषा के प्रतीक मुख्यतः वाचिक होते हैं।

इस दृष्टि का विस्तार होते-होते अब भाषा-विज्ञानी की दृष्टि में भाषा का स्वरूप बहुत स्पष्ट और अविच्छिन्न हो गया है।

(१) अब भाषा-विज्ञानी बोली जाने वाली भाषा को भाषा मानता है, लिखित भाषा को केवल गौण रूप में।

(२) यह भाषा की शुद्धि-अशुद्धि के प्रश्न की संगति नहीं समझाता, इसका यह अर्थ नहीं कि वह अशुद्ध रूपों का हिमायती है, या शुद्ध या अशुद्ध के भेद की वास्तविकता से इनकार करता है। भाषा-भाषी के रूप में वह भी अपने समाज के समय से उतना ही बंधा हुआ है, जितना कि कोई भी दूसरा व्यक्ति। पर भाषा के विवेचक के रूप में उसका कर्तव्य है कि वह शैक्षिक स्तर के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों को, बहुस्वीकृत और अल्पस्वीकृत रूपों के तौर पर रखे। यदि उस भाषा में ऐसा भेद है तो दोनों भेदों की सामाजिक सार्थकता की भी तलाश करे। दूसरे शब्दों में वह भाषा की पूर्ण वास्तविकता ध्यान में रखता है।

(३) भाषा-विज्ञानी यह जानते हुए भी कि भाषा और साहित्य के बीच घनिष्ठ संबंध है, इन दोनों के बीच सबसे महत्त्वपूर्ण भेद यह पाता है कि साहित्य की भाषा अधिक गतिशील बन रही, इसलिए विशिष्ट भाषा है और भाषा-विज्ञानी को भाषा के सिद्ध और साध्य, विशिष्ट और सामान्य दोनों रूपों से मतलब रखना होता है।

(४) भाषा-विज्ञानी इस भ्रम में नहीं रहता कि भाषा में जो कुछ तर्कसंगत नहीं है, वह गलत है। भाषा में तर्कसंगति की दृष्टि बहुत ही संकुचित दृष्टि है, क्योंकि भाषा का व्यवहार तथ्य को ही प्रकाशित करना नहीं है, अतथ्य को भी प्रकाशित करना है। वह झूठ-सच, सार्थक-निरर्थक, अनुनय-विनय, मनोरंजन, काम-काज, प्रेम और युद्ध—मानवीय अस्तित्व के समस्त विस्तार को अभिव्यक्त करने के उपयोग में आती है। इसलिए जहां भाषाशास्त्र की अवधारणा के अनुसार भाषा की परिधि सीमित हुई है, वहीं उस परिधि के भीतर उसके क्षेत्र का इस मान्यता के कारण विस्तार भी हुआ है। भाषा अपने में पूर्ण संघटना मान ली गयी है। इसके अवयवों के परस्पर संबंध के लिए भाषा से बाहर कोई तार्किक आधार ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी जाती है। इस संबंध का प्रामाण्य भाषा में ही स्वतःसिद्ध है। इसकी ओर पाणिनि ने बहुत पहले संकेत किया था कि भाषा में अनेक ऐसी धारणाएं हैं, जिनको विवेचन (अनुशासन) के अंतर्गत नहीं रखा जाता, जैसे प्रत्यय

विधान, समास में प्रधान-अप्रधान के निर्णय के लिए भाषा से इतर प्रमाण ढूंढ़ने की आवश्यकता और भाषा में काल के विचार को वास्तविक जगत् के काल से अभिन्न मानने का आग्रह। इसका अर्थ यह हुआ कि भाषा-विज्ञानी के विचार में सार्थकता, भाषा के प्रत्येक अंग के दूसरे अंग से संबंध स्थापित करने में है। अर्थ का विचार भाषा के रूप से निरपेक्ष होकर नहीं है। वाक् और अर्थ को संपृक्त देखने का मतलब यही है। तर्कशास्त्र से अभिभूत ग्रीक वैयाकरणों ने पश्चिम और नैयायिकों ने पूर्वकाल में जो दृष्टि अपनायी, वह दृष्टि भाषा को इतर-प्रमाण-सापेक्ष मानने वाली दृष्टि थी। वर्तमान युग में भी यह आग्रह रखने वाले लोग हैं और उन लोगों का कार्यक्षेत्र भाषाविज्ञान नहीं भाषा-दर्शन है, दूसरे शब्दों में भाषा का विवेचन वे वस्तु निरीक्षण के आधार पर नहीं, कल्पित धारणा के आधार पर करना चाहते हैं। इसीलिए वे भाषा के अध्ययन को एक स्वतंत्र अनुशासन न मानकर इसे मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, तर्कशास्त्र, शरीरविज्ञान और भौतिकविज्ञान जैसे दूसरे अनुशासनों पर आश्रित देखते हैं। इस प्रकार की भिन्न दृष्टियों के कारण भाषा की तीन परस्पर विरोधी परिभाषाएं आज मिलती हैं—एक वैज्ञानिक, दूसरी दार्शनिक और तीसरी ऐतिहासिक। दार्शनिक परिभाषा के अनुसार बजाय यह कहने के कि भाषा नाम की वस्तु की क्षमता से, जगत् नाम की वस्तु की वास्तविकता प्रमाणित होती है, कहना यह चाहिए कि जगत् नाम की वस्तु का तथ्य भाषा नामक वस्तु को स्वीकार करना संभव बना देता है। हुंबोल्ट ने कहा कि मनुष्य मुख्यतः अपने जिस वस्तुजगत् के साथ रहता है, वह भाषा के द्वारा प्रस्तुत किया गया जगत् है। इसी की उपपत्ति यह है कि वह अपनी सत्ता में से कात-कात कर भाषा के सूत निकालता है और धीरे-धीरे इस सूत में अपनेको बांध लेता है, हर भाषा अपने समुदाय के चारों ओर एक ऐसी लक्ष्मण-रेखा खींच लेती है, जिससे वह समुदाय छूट नहीं सकता। एक तरह से भाषा समस्त चिंतन के पूर्व है, समस्त भेद-व्यवस्था के पूर्व है और नामरूप के पूर्व है। सैद्धांतिक ज्ञान की धारणा का भी आधार भाषा ही है और इसलिए विभिन्न भाषाओं का भेद विभिन्न विश्व धारणाओं का भेद है, क्योंकि प्रत्येक भाषा का एक भीतरी रूप होता है। भारतीय शब्दावली में प्रत्येक वैखरी के पीछे एक पश्यंती होती है। दार्शनिकों की दृष्टि में इसलिए भाषा का विवेचन इस विश्व के संबंध का विवेचन है। ऐतिहासिक या समाजशास्त्रीय के लिए भाषा एक समाज का धर्म है, इसलिए यूरोप के पुराने भाषाविज्ञानी, भाषा की परिभाषा करना व्यर्थ मानते थे। भाषा को वे एक ऐसा सिद्ध तथ्य मानकर चलते थे, जिसे समझाने की आवश्यकता नहीं समझते थे। हर्मन पाल ने स्पष्ट कहा कि भाषा को ऐतिहासिक संदर्भ से भिन्न किसी अन्य संदर्भ में देखा ही नहीं जा सकता। यहां तक कि भाषा का भौतिक और मानसिक पक्ष भी इसके अधीन होकर चलता है।

पर पाल भाषा के एक-एक अंग को अलग देखने में विश्वास करते थे क्योंकि प्रत्येक अंग का अलग इतिहास है, यह वह अनुभव कर रहे थे। सुसुरे, ड्रोखाइन और मेइये ने भाषा के सामाजिक रूप को स्वीकार करते हुए इस पर भी बल दिया कि भाषा एक-दूसरे से विलग तथ्यों की राशिमात्र नहीं है, वह एक अपने में पूर्ण संघटना है और भाषा में जो मूलभूत द्वैत है, सामान्य और विशेष के बीच, संदेश और संदेशवाहक के बीच तथा भाषा के प्रतिरूप और भाषा के तथ्य के बीच, उस द्वैत के कारण ही भाषा भाषा है। त्रुबेत्सकाय, हेल्मस्लेफ और याकोब्सन ने सामाजिक दृष्टि को वैज्ञानिक दृष्टि के और समीप लाने का प्रयत्न किया। अमेरिका में ब्लूमफील्ड और उनके अनुवर्ती विद्वानों ने भाषा को वैज्ञानिक परिपृच्छा का विषय मानते हुए इस पर बल दिया कि समाज या संस्कृति से प्राप्त होने के ही कारण भाषा में ऐसा प्रतिरूपण है कि उसके अवयवों के परस्पर संबंध जानने के लिए भाषागत तथ्यों का पर्यवेक्षण और इस पर्यवेक्षण के आधार पर भाषा का विश्लेषण निरपेक्ष रूप से किया जा सकता है। दर्शन या इतिहास की उपयोगिता भाषा को समझने के लिए नहीं भाषा के परिवेश को समझने के लिए है। भाषा अपने परिवेश का परिणाम होते हुए भी परिवेश को बांधने वाली होती है, परिवेश से बंधने वाली नहीं। इस वैज्ञानिक दृष्टि के कारण आज किस प्रकार के भाषा-शिक्षण पर बल दिया जाने लगा है, उसमें पांच सिद्धांतों को ध्यान में रखा जाता है : (१) भाषा बोली जाती है। (२) भाषा एक आदत है जो धीरे-धीरे बन जाती है। (३) भाषा सीखते समय भाषा के बारे में सीखना उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना भाषा को सीखना। (४) भाषा वह है, जिसे उसके बोलने वाले बोलें, न कि जैसा उन्हें बोलना चाहिए। (५) एक भाषा दूसरी भाषा से बिल्कुल भिन्न होती है। इस वैज्ञानिक दृष्टि के कारण भाषा की शिक्षा सहज और सरल दोनों हो गयी है। कुछ लोग यह समझते हैं कि यह दृष्टि भाषा को बहुत गंवारू बना देगी। यह ख्याल वैसा ही भ्रामक है जैसा कि यह सोचना कि पाणिनि ने संस्कृत को एक कृत्रिम भाषा बना दिया। भाषा-विज्ञानी चाहे वे पाणिनि हों, चाहे आज के संघटनावादी, भाषा बनाना या बिगाड़ना ऐसा उद्देश्य अपने सामने नहीं रखते। उनके सामने एक ही उद्देश्य है कि भाषा मानवीय जीवन का एक जीता-जागता व्यापार है, बल्कि व्यापारों का व्यापार है, वह व्यापार अपने में संगत है। इसलिए व्यापार के रूप में उसका ज्ञान अपने में ही एक चरम उद्देश्य है। इस ज्ञान का उपयोग भी हो सकता है, दुरुपयोग भी, जैसा किसी भी वैज्ञानिक-शोध का होता है। पर इससे इस ज्ञान की महत्ता कम नहीं होती। पाणिनि के सामने उसके समुदाय की एक जीती-जागती भाषा थी, एक दूसरी भाषा भी थी, जो केवल सीमित कार्य के लिए सुरक्षित थी। पाणिनि ने पहले प्रकार की भाषा का विवेचन किया। उन्होंने कभी कहीं भी यह नहीं कहा कि ऐसा

होना चाहिए। बीजगणितीय संकेतों में उन्होंने उस भाषा के अवयवों का संबंध निरूपित किया। नितांत अबोध ही यह समझ सकता है कि संस्कृत बोलने वाला संस्कृत बोलने से पहले पाणिनि के नियम लगाकर भाषा का निर्माण करता है, तब उसे बोलता है। संस्कृत यदि कृत्रिम हुई तो पाणिनि के कारण नहीं, उत्तराधिकारिणी भाषाओं के प्रसार के कारण। संघटनात्मक भाषाविज्ञान ने इधर विभिन्न भाषाओं का जो विवेचन किया है, उसका उद्देश्य साहित्यिक भाषा का उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं है, ठीक इसके उल्टे साहित्यिक भाषा के वैशिष्ट्य को पहचानने का स्पष्ट आधार देना है। उसके लिए प्रत्येक समुदाय की भाषा एक-सा महत्त्व रखती है, क्योंकि ज्ञान के विषय के रूप में भाषा का प्रत्येक तथ्य पवित्र है। भाषा अनेक ऐसी विभाषाओं का समूह है, जो भिन्न होते हुए भी परस्पर संप्रेषणीय है और उनमें से कोई भी विभाषा सहजात नहीं है, चाहे पशुओं की भाषा हो, चाहे खेतिहर की भाषा, चाहे मिस्त्री की भाषा हो या वकील या आलोचक की भाषा। प्रत्येक को सीखने के लिए एक संस्कार की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। सरलता या कठिनता की बात बिल्कुल सापेक्ष है। संघटना जितनी समीप होगी, भाषा उतनी ही सरल लगेगी। जिसे जन-भाषा कहा जाता है, वह भी सीखने से आती है और अर्द्धशिक्षित लोगों का यह बहुत बड़ा भ्रम है, जो भाषा की उपमा नदी की धारा से देकर यह मान लेते हैं कि भाषा बिना किसी प्रयत्न के अपने-आप मन में उमड़ जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि ने भाषा के संबंध में इस भ्रांति को पूरी तरह से दूर कर दिया है। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव समाज की रचना जितनी जटिलतर होती जा रही है, भाषा के स्तर और रूप भी उतने ही जटिल होते जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी मात्रा में एक से अधिक भाषा बोलने और समझने के लिए बाध्य हो रहा है। यह समझना कि जो भाषा हम अपने एक सीमित पारिवारिक परिवेश में बोलते हैं, वही व्यापक सामाजिक परिवेश में भी बोली जाती है, बहुत बड़ी भूल है। यदि दोनों के उपयोग की अनिवार्यता है तो दोनों सीखनी होंगी और यदि किसी व्यक्ति ने सीखने की कोशिश नहीं की या सीखने की अधूरी कोशिश की तो वह यह प्रमाणपत्र देने का अधिकारी नहीं है कि वह भाषा इसलिए कृत्रिम है कि उसका बोलना और समझना मेरे लिए मुश्किल है। भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में इस वैज्ञानिक दृष्टि का बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भाषा की एक परिभाषा यह की गयी कि भाषा यादृच्छिक, वाचिक प्रतीकों की ऐसी संघटना है जिसके द्वारा एक विशिष्ट मानव समुदाय परस्पर व्यवहारशील होता है। इस परिभाषा के चार वंश हैं—भाषा एक विशिष्ट मानव समुदाय की एक संपत्ति होती है। समुदाय का अर्थ है एक से अधिक व्यक्ति, जो एक-दूसरे के साथ अपने समुदाय के बाहर के

व्यक्तियों से अपने अर्जित संस्कार में अधिक समीप हों। इसलिए यदि किसी भाषा का बोलने वाला केवल एक रह जाता है तो वह भाषा मृत हो जाती है। टुनिका (अमेरिकी जनजातीय भाषा) जैसी जाने कितनी भाषाएं मानव इतिहास में लुप्त हो गई होंगी। समुदाय के व्यवहार का माध्यम होने के कारण भाषा अर्जित की जाती है और उसकी स्थिति सामाजिक स्वीकृति पर आधृत रहती है। समाज व्यवहार का माध्यम होने के कारण वह सतत परिवर्तनशील भी होती है, पर एकांश में नहीं, अपने अखंड रूप में। भाषा की संप्रेषणीयता मनुष्य के व्यवहार में दूसरे माध्यमों से सबसे अधिक व्यापक और परिच्छिन्न है। संप्रेषण के दूसरे माध्यम भी भाषा पर ही अवलंबित है, उदाहरण के लिए तार का संकेत, झंडियों का संकेत जैसे दूसरे श्रव्य और दृश्य माध्यम भी भाषा के ही रूपांतर हैं। और इसलिए उनका प्रामाण्य भाषा में ही निहित है। दार्शनिक आग्रह से यह भी कहा गया है कि भाषा न केवल विचारों के संप्रेपण का माध्यम है बल्कि स्वयं विचार का माध्यम है। मनुष्य अपने मन में भी यदि कोई विचार करता है तो वह भाषा के अव्यक्त रूप के द्वारा ही, पर भाषाविज्ञान की परिधि में उस अव्यक्त भाषा का विश्लेषण इसलिए नहीं आता कि वह भाषा ही नहीं है, जब तक कि वाग्यंत्र से बाहर उक्ति-खंड के रूप में न निकले। वह मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय जरूर है। परिभाषा का दूसरा अंश है; भाषा एक संघटना है। जब हम संघटना कहते हैं तो हमारे मन में कुछ ऐसे निश्चित संबंध होते हैं, जिन्हें जान लेने पर हम किसी भी भाषा विशेष के बारे में पहले से ही प्रत्याशा कर लेते। उदाहरण के लिए यदि हम हिंदी भाषा की संघटना जानते हैं तो जिस किसी वाक्य में हम 'ने' देखेंगे वहां क्रिया रूप को या तो पुल्लिंग, एक वचन के रूप में पाएंगे या क्रिया के(यदि कोई कर्म है तो उस)कर्म के लिंग, वचन के रूप में पायेंगे। भाषा के संघटित होने के कारण ही हम प्रत्याशा कर सकते हैं कि उस भाषा का अमुक अवयव अमुक अवयव के साथ आता है या नहीं आता है। भाषा के संघटन होने का दूसरा परिणाम यह है कि भाषा में कोई भी परिवर्तन एकदेशीय रूप में नहीं हो सकता, जो भी परिवर्तन होता है, वह पूरी संघटना को लेकर होता है, इसीलिए एक भाषा की इकाई दूसरी भाषा की इकाई नहीं बन सकती। संस्कृत में नाम-रूप की इक्कीस विभक्तियां हैं, पाली में केवल बारह। संस्कृत की बहुवचन विभक्ति का यदि पाली की बहुवचन विभक्ति से समीकरण करें तो यह ठीक न होगा। संस्कृत का बहुवचन एक ऐसी शृंखला का अंग है जिसमें वचन त्रिधा विभक्त है। पाली में वह केवल द्विधा विभक्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्कृत की वचन-संघटना जब पूरी की पूरी बदल गई है, तब एक नयी संघटना ने जन्म लिया जिसमें त्रिधात्मक भेद नहीं, बल्कि द्विधात्मक भेद की सार्थकता है। संघटना का तीसरा रूप यह है कि भाषा के अवयव एक-दूसरे से सुघटित

होने के कारण विश्लेषण के विषय हो सकते हैं और हम वहां तक विश्लेषण को ले जा सकते है जिसके बाद विश्लेषण करने में उस भाषा की दृष्टि से कोई सार्थकता नहीं रह जाती। उदाहरण के लिए यदि हमें संस्कृत में राम शब्द का विश्लेषण करना हो तो हमें इसको दो अर्थवती इकाइयों 'रम्+अ' में विभक्त कर सकते हैं, पर हिंदी में इसी शब्द का विश्लेषण करते समय हम 'राम' को एक इकाई मानकर चलेंगे, क्योंकि हिंदी में 'रम्' और 'अ' के भेद की सार्थकता नहीं है। परिभाषा का तीसरा अंश है कि भाषा यादृच्छिक प्रतीकों की संघटना है। प्रतीक कहने से यह नियमन किया जाता है कि दो प्रकार से वस्तु का बोध कराया जाता है, प्रतीक के द्वारा और संकेत के द्वारा प्रतीक वह है जो प्रतीयमान से नियत संबंध नहीं रखता। संकेत वह है, जो सांकेतिक से नियत संबंध रखता है। उदाहरण के लिए बच्चों के स्कूल की सन्निधि से बच्चों के चित्र से जब द्योतित कराया जाता है तो वह स्कूल का एक संकेत है, जो किसी न किसी रूप में स्कूल से अव्यभिचरित रूप में संबद्ध है। पर स्कूल शब्द स्कूल के लिए प्रतीक है। स्कूल में स्, क्, ऊ, ल के अलग-अलग उच्चारण से जो व्यक्ति स्कूल का अर्थ नहीं जानता है, उसके मन में स्कूल की कोई भी प्रतिमा उदित नहीं होती। प्रतीक और प्रतीयमान का संबंध किसी न किसी समझौते या समय पर अवलंबित है। प्रत्येक समुदाय का अलग समय हो सकता है और भाषा को समझने के लिए इस त्रिकोणात्मक संबंध को समझना आवश्यक होता है, प्रतीक, प्रतीयमान और प्रतीक-प्रतीयमान संबंध। इस संबंध को भारतीय विचारकों ने औत्पत्तिक संबंध कहा है। परिभाषा में प्रतीक का विशेषण दिया गया है यादृच्छिक (या मनमाना), देखने में यह परस्पर विरोधी लगता है कि भाषा एक ओर तो संघटना है, दूसरी ओर उसमें यदृच्छा (मनमानेपन) को स्थान है। इस विरोध का परिहार यों है कि भाषा में प्रतीक विशेष से जब प्रतीयमान विशेष की अभिव्यक्ति की जाती है तो उसके पीछे कोई तर्क-संगति नहीं होती या कोई बाह्य वस्तु-जगत् में स्थिति से लिया गया कार्य-कारण-भाव होता है। उदाहरण के लिए किसी भाषा के लिंग, वचन या पुरुष का विचार ले लीजिए, किसी भाषा का लिंग, वचन या पुरुष वस्तु-जगत् के लिंग, वचन, पुरुष से समानांतर होते हुए भी बिलकुल स्वतंत्र है। यह उस भाषा-भाषी की यदृच्छा नहीं तो क्या है ? पर यह यदृच्छा संबंध के निर्धारण में होती है, संबंध निर्धारित होने के बाद यह उस भाषा के बोलने वाले के लिए विपक्षता बन जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी में 'हवा चलती है' और 'आग जलती है' के पीछे यदृच्छा के सिवा और कोई दूसरा हेतु नहीं हो सकता, पर एक बार 'हवा' के साथ 'चलती है' यह संबंध स्थापित हो गया तो तब तक हवा 'चलता है' नहीं कहा जा सकता, जब तक हिंदी भाषा की लिंग व्यवस्था पूरी की पूरी बदल नहीं जाती। धीरे-धीरे आदमी अपनी भाषा से अभ्यस्त हो जाने पर

इसीलिए यह भूल जाता है कि प्रतीक और प्रतीयमान का संबंध किसी यदृच्छा पर आधारित है। दूसरी, भाषा सीखते समय उसे सबसे पहले कई बातें अटपटी लगती हैं और लगता है दूसरी भाषा बहुत अतर्कसंगत और कहीं-कहीं उपहासास्पद भी है। उदाहरण के लिए बंगला भाषी को हिंदी की लिंग-व्यवस्था अटपटी लगती है। भाषाविज्ञान का विद्यार्थी मनमानेपन को भाषा का एक आवश्यक अंग मानकर तब तक उससे व्यग्र नहीं होता, जब तक कि वह संघटना के विपरीत नहीं है। परिभाषा का चौथा अंश है कि भाषा वाचिक प्रतीकों की संघटना है अर्थात् ये प्रतीक मनुष्य के वाग्यंत्र से निकलते हैं। पाणिनि-शिक्षा में इस प्रतीक के निकलने के पूर्व जो बुद्धि-मनोव्यापार होता है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थ ग्रहण करती है। इसके अनंतर बुद्धि के द्वारा मन को कहने के लिए प्रेरित करती है। मन शरीर में रहने वाले तैजस तत्त्व को उकसाता है। तैजस तत्त्व (प्रकाश तत्त्व) प्राणवायु को प्रेरित करता है और वह प्राणवायु आभ्यंतर बाह्य प्रयत्नों के द्वारा वाग्यंत्रों के अवयवों के परस्पर व्यापार के द्वारा बाहर निकलते-निकलते जिस नाद को उत्पन्न करती है, वही मानवी वाक् का आधार है। भाषा वाचिक प्रतीकों की संघटना है, इसका अभिप्राय यह है कि १. इसके अंतर्गत मानवेतर प्राणियों का नाद नहीं आता। २. इसके अंतर्गत मनुष्य की अव्यक्त, अस्फुट या असमंजस (असंघटित) उक्ति नहीं आती, जैसे—छींक, खांसी और कराह, क्योंकि इनका कोई प्रतीकात्मक मूल्य नहीं है, ३. इसके अंतर्गत लिखित भाषा नहीं आती। साथ ही ये प्रतीक वाचिक होने के ही कारण वक्ता-श्रोता के द्वैत की अपेक्षा रखते हैं और इन प्रतीकों की संप्रेषणीयता, तब तक वक्ता और श्रोता के द्वारा उत्पन्न किये गये वाचिक प्रतीकों के अंतर से प्रभावित नहीं होती, जब तक यह अंतर प्रतीक-प्रतीयमान-संबंध की परिधि को प्रभावित नहीं करता। इसीलिए भाषा में महत्त्व प्रतीक की अभिन्न प्रतीति का है, प्रतीक की यथातथ्य अनुकृति का नहीं। भाषा अनुकरण से ही सीखी जाती है, यह सही है, पर इसके साथ ही यह भी सही है कि यह अनुकरण कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। कुछ न कुछ छूट देनी ही होती है, तभी उस भाषा के बोलने वालों का एक समुदाय बनता है। इस छूट की सीमा के बाहर जाते ही दूसरा समुदाय बन जाता है। भाषा में इसी अनुकरण की अपूर्णता के कारण दो आयामों में निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं—देश के आयाम में और काल के आयाम में। भाषा के अध्ययन भी दो आयामों में होते हैं—एकदेशीय आयाम में और एककालिक आयाम में। इस प्रकार संघटना पर बल देते हुए भी ऐतिहासिक

दृष्टि या सामाजिक दृष्टि का समन्वय किया जा सकता है और कुछ अंश तक दार्शनिक दृष्टि का भी समन्वय किया जा सकता है। हम यह मानकर चलें कि भाषा मानव संस्कृति का अंग नहीं है, संस्कृति की वाहिका है, यह समस्त सांस्कृतिक क्रिया-कलाप का आधार है और किसी भी समुदाय के वैशिष्ट्य को समझने के लिए सबसे अधिक सुलभ और सबसे अधिक फलप्रद साधन भी है। इसीलिए भाषा के एक संघटित वर्णन से ही हम मानव समुदाय के तौर-तरीकों की गहराई में जा सकते हैं। साथ ही इसी के द्वारा हम मानव समाज की विविधता और परस्परसंबद्धता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और जब तक भाषा के नाम के माध्यम से वह ज्ञान नहीं प्राप्त करते, तब तक हम अंधविश्वास, पूर्वाग्रह और आरोपित बौद्धिकता के गुलाम बने रहेंगे।

भाषा, साहित्य और भाषाविज्ञान का शिक्षण

हिंदी के विद्वद्वर्ग में मैं अपने को घुसपैठिया ही मानता हूं, इसलिए भारतीय हिंदी परिषद् के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं कि उसने मुझे इस गोष्ठी की अध्यक्षता के लिए निमंत्रित किया। मेरा गहरा संबंध हिंदी से या तो पाठक रूप में रहा या उसको वरण करने वाले लेखक के रूप में या फिर उसके साहित्य के मुक्त व्याख्याता के रूप में। इसलिए मेरा सरोकार (भले ही उच्च वैदुषिक स्तर पर न हो) हिंदी भाषा और साहित्य से गहरा रहा है और शायद इसीलिए भाषा की उपेक्षा और साहित्य के भाषातीत सतही विवेचन से क्लेश होता है। सोचता हूं कि क्लेश होना चाहिए नहीं, विशेषकर परिपक्व अध्यापक को तो और नहीं, पर होता है। इससे भी अधिक क्लेश होता है, बोलियों और बोलियों के साहित्य को सुरक्षा या विलगाव का भाव देने पर। हिंदी भाषा और हिंदी की बोलियों में गहरा रिश्ता है, इन बोलियों से संवाद न बना रहे तो हिंदी घुटकर रह जाए। बोलियों के साहित्य को हिंदी साहित्य से अलग देखना हिंदी के लिए बहुत अहितकर हो रहा है। मैं तो इसका पक्षधर हूं कि उर्दू साहित्य का श्रेष्ठ अंश भी हिंदी के पाठ्यक्रम का अंग होना चाहिए और ब्रज-अवधी के मानक साहित्य के अलावा चुना हुआ लोक साहित्य भी। केवल बोलियों के वर्गीकरण के संबंध में कुछ मतों की समीक्षा से हिंदी और हिंदी की बोलियों के संबंध की पहचान नहीं करायी जा सकती। मैं जो कुछ निवेदन कर रहा हूं, वह अपनी इस चिंता से प्रेरित होकर कि भाषा के प्रति जो सजगता होनी चाहिए, वह क्यों नहीं हो पा रही है।

भाषा के बारे में एक भ्रांत धारणा लोगों में है कि यह तो सतही चीज है, असली चीज तो है भाषा में अभिव्यक्त अनुभव या भापा में निहित संवेदना। इसी-लिए साहित्य-समीक्षा में भाषास्तर की समीक्षा वहिरंग समीक्षा मानी जाती है। और भाषा के प्रति इस रुख ने समीक्षा में या तो धुंधलापन, हवाईपन और पनियल-

पन ऐसा भर दिया है कि आप समीक्षा के शब्दों को हेर-फेर करके किसी भी कृति-कार के साथ जोड़ सकते हैं या फिर भाषा-विश्लेषण के नाम पर ऐसी यांत्रिकता की सृष्टि की है कि भाषा के प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगे। इन दोनों छोरों की अतिवादी शोध-समीक्षाओं ने भाषा की संवेदना कुंठित कर दी है। इसका एक दु:खद परिणाम यह हुआ है कि भाषाविज्ञान पश्चिम में चाहे भाषा की सर्जनशीलता और सामाजिक संप्रेष्यता के लिए चिंतित हो रहा हो, पर हमारे यहां भाषाविज्ञान और साहित्य ने एक-दूसरे से एकदम मुंह फेर लिया है। भाषाविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में भी एक असंतुलन आ रहा है। पहले बोलियों के ऐतिहासिक विवेचन पर अधिक बल दिया गया और समकालीन घात-प्रतिघातों और विविध संपर्कों के परिणामों और उनसे संभावित प्रवृत्तियों के आकलन की कोशिश कम की गयी। अब समकालिक वर्णन या सर्वेक्षण अध्येताओं पर इतना हावी हो गया है कि ऐति-हासिक सूत्र-बद्धता आंखों से ओझल हो गयी है। पाठ्यक्रम में जो भाषाविज्ञान है, वह इतना पुरायँठ है कि बस आंजने के काम आये। ऐतिहासिक और समकालिक अध्ययनों के बीच संगति संस्थापित करने का प्रयत्न कम परिलक्षित होता है। ऐतिहासिक अध्ययन के सहकारी के रूप में प्राचीन भाषाओं (जैसे संस्कृत, पालि, प्राकृत या अपभ्रंश) का अध्ययन भी अनुवाद-केंद्रित है। भाषाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को वहां रेखांकित नहीं किया जाता। इस कारण भाषा और भाषा-विज्ञान में दूरी अपने-आप बढ़ती जा रही है, भाषाविज्ञान अब कहीं-कहीं विकल्प प्रश्नपत्र बन रहा है और जो भाषाविज्ञान पढ़ाया जाता है, वह तो नहीं ही पढ़ाया जाता तो अच्छा था।

आवश्यकता इस बात की है कि भाषा, साहित्य और भाषाविज्ञान के संबंध को ठीक-ठीक समझा जाए। मनुष्य ने जब समाज में जीने की आवश्यकता अनुभव की, तभी उसने एक-दूसरे से व्यवहार के लिए कुछ संकेतों का एक-दूसरे से मिल-जुलकर आविष्कार किया, ये संकेत पहले वस्तुओं और व्यापारों के ताद्रूप्य पर आधृत रहे होंगे, पर ज्यों-ज्यों परस्पर संप्रेषण की विषय वस्तु का विस्तार हुआ, त्यों-त्यों ये संकेत प्रतीक में राशीकृत और सामान्यीकृत होते गये होंगे, उन्हीं प्रतीकों की व्यवस्था के रूप में भाषा विकसित हुई और आगे भी होती रही। इस प्रकार भाषा और सामाजिक जीवन में परस्पर-पूरक संबंध स्थापित हुआ। भाषा ने समाज को उत्तरोत्तर व्यापकता का आयाम दिया, एक प्रजाति या नस्ल तक भाषा सीमित नहीं रही, भिन्न प्रजातियों के लोग संपर्क में आये। चाहे शादी-ब्याह के रिश्तों में न भी बँधे, परस्पर व्यवहार के लिए एक भाषाभाषी होने के लिए विवश हुए, उसी प्रकार जिस प्रकार आज भी एक दूर जंगल में कारखाना स्थापित होता हैं, उसमें विभिन्न भाषाभाषी भर्ती होते हैं और फिर उस कारखाने में सर्वजन व्यवहार के लिए एक भाषा गृहीत हो जाती है, कभी-कभी उसमें सभी भाषाओं के

कुछ शब्द, कुछ रूप भी आ जाते हैं और कभी-कभी इस प्रकार के संघात से एक नयी बोली जन्म लेती है, जो 'पिजिन' होती है, कभी क्रियोल, कभी स्वतंत्र भाषा (जैसे अमेरिकी अंग्रेजी)। समाज ने और सामाजिक परिवर्तनों ने भाषा को प्रभावित किया, सामाजिक गतिशीलता के दबाव में भाषा में तेजी से बदलाव आता रहा, सामाजिक ठहराव में भाषा भी ठहरी रही। पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि भाषा समाज से निरपेक्ष होकर जी सके या समाज भाषाहीन होकर रह सके। कभी-कभी आदमी एक साथ दो-दो समाजों के साथ अपनी अस्मिता जोड़े रहता है और जब वे दो समाज समानांतर नहीं चल पाते तो एक बड़ा वृत्त बनता है, दूसरा छोटा, छोटा वाला धीरे-धीरे और छोटा होता जाता है। एक समय आता है, जब वह एकदम बड़े वृत्त में विलीन हो जाता है। उदाहरण के लिए अपने देश में टोडा और कोटा जनजातियों की इन्हीं नामों की भाषाएं लुप्त होती जा रही हैं, इन जन-जातियों के लोग टोडा, कोटा रहते हुए भी टोडाभाषी, कोटाभाषी नहीं रह पा रहे हैं, वे मात्र कन्नड भाषी होते जा रहे हैं, क्योंकि उनके बच्चे टोडा-कोटा-व्यवहार कम करते जा रहे हैं। इसका उलटा भी होता है, छोटे समुदाय की भाषा धीरे-धीरे बड़े समुदाय की भाषा बन जाती है, मलयेसिया में ऐसा ही हो रहा है। भाषा इस प्रकार नस्ल, मजहब या राजनीतिक विभाजन इन सबका अतिक्रमण पहले कर लेती है, समाज बाद में करता है। भाषा दूसरे शब्दों में मनुष्य की मुक्ति का (अपनी संकीर्णताओं से) द्वार है। भाषा की आवश्यकता मनुष्य की स्वाधीनता की मांग से जुड़ी हुई है।

अब यहां तुरंत प्रश्न उठता है कि भाषा के आधार पर तो विभाजन हो रहे हैं, दंगे हो रहे हैं, भाषा तो संकीर्णता के प्रश्न से जुड़ गयी है। सतही तौर पर यह बात अपनी जगह पर जरूर हिंदुस्तान में बहुत नाजुक हो गयी है, पर कुर्सी की राजनीति से अलग हटकर अगर हम हिंदुस्तान की भाषाई और सामाजिक बनावट का विश्लेषण करें तो स्पष्ट रूप से तीन बातें उभरती हैं। एक तो यह कि समग्र सांस्कृतिक परिस्थिति का तकाजा है कि प्रादेशिक और सार्वदेशिक संस्कृति-सूत्रों के बीच संगति स्थापित रखने के लिए दोनों स्तरों के व्यवहारों के लिए दो भाषाएं चाहिए और सार्वदेशिक व्यवहार के लिए स्वीकार की जाने वाली भाषा सतही शब्दावली की समानता या आरोपित अंग्रेजी से अनूदित वाक्य विन्यास की समानता के कारण सार्वदेशिक नहीं हो सकती, सार्वदेशिक वही हो सकती है जो हिंदुस्तान की विश्व दृष्टि और अनुभव-समृद्ध परंपरा की अर्थकोटियों की समानांतरता को अपने में समाहित कर सके। दूसरा यह कि आर्थिक समता की मांग यह है कि सुविधाप्राप्त वर्ग और सुविधावंचित वर्ग के बीच की खाई पाटने के लिए सुविधावंचित वर्ग की पहुंच वाली भाषा को प्रतिष्ठा देना आवश्यक है। प्रबुद्ध वर्ग का नेतृत्व तभी सही जनतांत्रिक नेतृत्व हो सकता है, जब वह सामान्यजन की

भाषा में अपनेको अभिव्यक्त कर सके और अपने विशिष्ट भाषा ज्ञान को नेतृत्व के लिए आवश्यक शर्त न बनाये। तीसरा यह कि समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों दृष्टियों से देखेंगे तो अपने-आप यह अनुभव करेंगे कि वही भाषा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में साधक होगी, जो समष्टि की आकांक्षाओं के अनुरूप होगी। इन तीन बातों को सामने रखकर हम यदि भाषा-विकास की योजना बनायें तो बहुत-सी भ्रांतियां और आशंकाएं दूर हो जाएंगी। पर तब उस योजना की यह अपरिहार्य शर्त होगी कि प्रादेशिक और सार्वदेशिक भाषा की शिक्षा इस रूप में दी जाए कि शिक्षा प्राप्त करने वाला प्रादेशिक और सार्वदेशिक दायित्वों के प्रति सजग रहते हुए दोनों भाषाओं के साथ अपनी अस्मिता जोड़ते हुए गर्व अनुभव कर सके। जब तक हिंदी की अस्मिता को अपनी अस्मिता न माने तब तक हिंदी न सीखे, यह इससे अधिक अच्छा है कि हिंदी को परायी मानकर या आरोपित मानकर हिंदी सीखे। इसी प्रकार हिंदीभाषी जो भी द्वितीय भाषा सीखे, वह इस बुद्धि से कि वह द्वितीय भाषा उसे भारतीय साझेदारी का बोध कराने में सहायक होगी। इसीलिए यदि ऐसा छात्र जिसे हिंदीभाषी क्षेत्र के बाहर जाने की आकांक्षा नहीं है, द्वितीय भाषा के रूप में संस्कृत सीखता है तो यह उसके भीतर सार्वदेशिक साझेदारी का संकल्प जगाने में सहायक है। हां, हिंदी भाषी क्षेत्र में हिंदी ज्ञान को स्वतः गिद्ध नहीं मानना होगा। हिंदी का संस्कार भी अर्जित करने योग्य संस्कार है, दूसरी भाषाओं और बोलियों के अधिगम के द्वारा और समृद्ध बनाने योग्य संस्कार है, इस पर ध्यान न देने से ही हिंदीभाषी क्षेत्र के लोगों की हिंदी केवल हिंदी अध्यापक की जिम्मेदारी बन गयी है। उत्तर प्रदेश के एक अंग्रेजी प्रोफेसर ने कहा कि आपकी हिंदी तो विचित्र है, इसका कोई निश्चित व्याकरण नहीं। मैंने उनसे कहा—"मेरी क्यों? आपकी भी तो हिंदी है।" रचनात्मक स्तर पर हिंदी केवल हिंदी अध्यापक की नहीं, केवल शिक्षा के स्तर पर वह हिंदी के अध्यापक का विशेष दायित्व बनती है।

पर एक बात जरूर है, साहित्य की भाषा ही एक मात्र भाषा नहीं और साहित्य की भाषा अपनेको जीवंत बनाये रखने के लिए निरंतर जीवन के विविध क्षेत्रों के भाषा-व्यवहारों के स्रोतों से पानी ग्रहण करती है। भाषा के इस इंद्रधनुषी रूप की पहचान पूरी करायी जाय तो उससे भाषा-ज्ञान तो निखरेगा ही, साहित्य की भाषा की सूक्ष्म भंगिमा का अर्थ भी अधिक आस्वाद्य रूप में उन्मीलित होगा।

समाज, भाषा और साहित्य में इस प्रकार एक कंगनाजोड़ संबंध है और इस संबंध को समझाने के लिए भाषाविज्ञान की गुहार लगायी जाती है। भाषाविज्ञान अंग्रेजी ग्रामर के अर्थ में व्याकरण नहीं है, वह उपनिषदों के 'नाम रूपे व्याकरवाणि' प्रयोग के अर्थ में नाम और रूप का व्याकरण है, पृथक्करण नहीं, एक-एक राशीकरण की प्रयोजकता की पहचान है। वह भाषा के सामान्य में विशेष की तलाश है। भाषाविज्ञान तीन काम संपन्न करता है। वह भाषा के बाह्य अर्थों

को आंतरिक अर्थकोटियों में कैसे व्यवस्थित किया जाता है, इसे समझाता है। फिर वह भाषा की आंतरिक अर्थकोटियों की अभिव्यक्तियों के विकल्पों की बनावट में लगे पुनरावर्त्तमान रूपों के जोड़ों को समझाता है। अंत में वह उच्चारण के स्तर पर प्रयत्न और ग्रहण के स्तरों पर आभासित भेदों के बीच अभेद की प्रतीति के सामाजिक आधार ढूंढ़ता है। दूसरे शब्दों में भाषाविज्ञान भाषा के जैव-सामाजिक रूप को पूरी तरह बुद्धिगम्य करता है। भाषाविज्ञान परिशुद्धता को नहीं ग्राह्यता को भाषिक संप्रेषण की कसौटी के रूप में स्वीकार करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह 'सब चलता है' की निरंकुशता को समर्थन देता है। ठीक इसके विपरीत वह सामाजिक स्वीकृति को ही भाषा के लिए प्रमाण मानता है। यह दूसरी बात है, भाषाविज्ञान का समाज व्यापक है, साथ ही गतिशील है। वह भाषा को बांध रखने वाले धनी-धोरी बनने वाले प्रबुद्ध वर्ग की संपत्ति नहीं मानता, वह भाषा को उन सबकी बौद्धिक चेतना का संयोजक सूत्र मानता है, जो उसका व्यवहार करते हुए स्वयं जी रहे हैं और उसमें दूसरों के जीने में रस ले रहे हैं। जब किसी समाज में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की बातचीत में रुचि नहीं रखता तो भाषा में लचीलापन कम हो जाता है और भाषा पहले विजड़ित होती है, फिर धीरे-धीरे मर जाती है। भाषाविज्ञान इसलिए मानव की चिंता सबसे अधिक सघन समय में करने वाली भाषा में सबसे अधिक सामाजिक गतिशीलता की संभावनाओं की खोज करता है। वह साहित्य के नकलीपन और असलीपन को उसकी भाषा के अंदाज से पहचानने के संकेत ढूंढ़ता है। कुछ लोग इस प्रयत्न को बाह्य रूप का परीक्षण समझकर उपेक्षणीय बतलाते हैं। काश, वे यह समझ सकते कि साहित्य की गहरी से गहरी अनुभूति शब्दों में ही अभिव्यक्त होती है, कहीं यति या विराम या शब्द छोड़ देने से कुछ कहा जाता है तो वहां भी इनके सीमांत शब्द न हों तो इनमें कोई अर्थ नहीं निकलेगा। भाषा जब कोई कमजोरी छिपाना चाहती है, तभी अधिक उघड़ती है और जब कोई अर्थ खोलना चाहती है, जैसे कमल अपनी पंखुड़ियां खोलता है, तभी अधिक अवगुंठित हो जाती है। समर्थ भाषा की पहली पहचान है कि वह पूरी की पूरी हुई नहीं होती, वह कुछ न कुछ अनहुई होती है, क्योंकि वह कुछ न कुछ उसे अपने ग्रहीता में भी नया-नया होना होता है। दूसरे शब्दों में वैसे तो भाषा मात्र व्यापार है, पर समर्थ और भावप्रेषक भाषा तो ऐसा व्यापार है जो दुहराया जाता रहता है और बराबर नया होता रहता है। भाषाविज्ञान इस नये होते रहने और यंत्रवत् एक ही रूप में प्रतीत होने के बीच के अंतर को भाषा की समूची बनावट और बुनावट में देखता है तो इसलिए नहीं कि बस देखकर मुग्ध होता रहे, बल्कि इसलिए कि उसके पार देखने की दृष्टि दे। यह दृष्टि मूल्यग्रहण के प्रति तटस्थ दृष्टि नहीं बल्कि उसके लिए अत्यंत प्रकृष्ट रूप में साधक दृष्टि है।

भाषाविज्ञान भाषा और भाषा के देश-काल का संपूर्ण आकलन है और इसी-लिए असंपूर्ण भाषाविज्ञान भाषा के खंडित बोध का कारण भी बन सकता है और बनता है। भारतीय भाषाओं को चार ऐतिहासिक परिवारों में बांटकर या हिंदी की बोलियों को पूर्वी, पश्चिमी और मध्य इन तीन खानों में रखकर जिसके कर्त्तव्य की इतिश्री हो जाए, वह भाषाविज्ञान निश्चय ही भयावह है। ऐतिहासिक उद्-गमों की भिन्नता के साथ-साथ समस्त परिवारों की भाषाओं के संमिलन और आदान-प्रदान की परिणामभूत समान बनावट की बात न बतलायी जाये और हिंदी की बोलियों में निहित जनसाहित्य की जीवंत धारा से हिंदी के बार-बार पोषित होने की प्रक्रिया न समझायी जाये तो फिर सिरफुटौवल, अलग-अलग ढपली का बजना दोनों सुनिश्चित हैं। संपूर्ण भाषाविज्ञान ही यह पहचान करा सकता है कि न तो तुलसी की अवधी पूर्वी अवध की बोली थी, न साहित्यिक ब्रजभाषा ब्रजक्षेत्र की बोली और न हिंदी कुरु प्रदेश की खड़ी बोली है। ये सभी परिनिष्ठित भाषा रूप अपने क्षेत्रीय बोली रूप से अलग हैं, क्योंकि अन्य प्रभावों से ये भावित होकर अपनी क्षेत्रीय परिधि के बाहर स्वीकार्य हो गये हैं और हिंदी की गहरी समझ के लिए संस्कृत, प्राकृत, क्षेत्रीय बोलियों और उर्दू की सामान्य समझ अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि हिंदी की बुनावट में इन सबके तार लगे हुए हैं, पर ऐसे लगे हैं कि अब वे हिंदी के हो गये हैं। इतिहास पीछे नहीं लौटता, इतिहास की सही समझ आगे जरूर बढ़ाती है, क्योंकि वह विकासक्रम की संभावनाओं की आकल्पना प्रस्तुत करती है। संपूर्ण भाषाविज्ञान में इसीलिए मैंने कहा संपूर्ण देश और संपूर्ण काल का बोध दोनों शामिल हैं।

हिंदी के विकास के लिए आपसे अधिक कौन अधिक चिंतित होगा? आप इस मुश्किल जमाने में (जबकि हिंदी संदर्भहीन हो गयी है, हिंदी सीखना-बोलना दोनों हीन भाव के द्योतक हो गये हैं। हिंदी अब गैर-हिंदी संदर्भ में एक केंद्रबिंदु बन गयी है और अस्पृश्य, अनुच्चार्य और अश्रव्य प्रसंग बन गयी है) हिंदी के दायित्व से अपने को जुड़ा मान रहे हैं। आप मुझसे अधिक आज के भारतीय समाज की भाषा-हीनता के दर्द से पीड़ित हैं। आपके सामने इसीलिए मैंने बहुत ही अशास्त्रीय ढंग से कुछ बातें रखीं। यदि ये विचार्य हों तो इन्हें स्वीकार करें और इनके आलोक में हिंदी पठन-पाठन में अपेक्षित परिवर्तन पर विचार करें, यदि ये विचार आपको त्याज्य लगें तो भी मुझे संतोष होगा कि हिंदी की सबसे जिम्मेवार और प्रतिनिधि जनतांत्रिक गैरसरकारी संस्था के लोगों ने मुझे अपने बीच यह बात कहने के लिए बुलाया और मैंने अपनी बात कह दी। पुनः आपके प्रति और आपके माध्यम से भार-तीय हिंदी परिषद् के समस्त परिवार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

(भारतीय हिंदी परिषद् के २१वें अधिवेशन में
भाषाविज्ञान संगोष्ठी में दिया गया अध्यक्षीय भाषण।)

आज और आज की कविता

'आज की कविता' कहना ही कुछ अटपटा लगता है, क्योंकि कविता तो कविता होती है, न आज की होती है, न कल की होती है, वह कल चाहे बीता हुआ हो या आगे आने वाला हो, पर एक बात है, अच्छी कविता में असंख्य-असंख्य आजों का एक आज बोलता है, वह जब भी पढ़ी जाती है तो उस समय के पाठक का आज बन जाती है। यह वक्तव्य देकर मैं आज की बहस से कतरा नहीं रहा हूं कि समकालीनता का कविता पर दबाव पड़ता है या नहीं, दबाव तो पड़ता ही है, वह न पड़े तो कविता लिखी ही नहीं जा सकती, लिखी भी जाय तो वह गहरी न हो, तेज धार वाली न हो। मैं तो सिर्फ पेशबंदी करना चाहता हूं कि कविता किसी एक पाठक को संबोधित नहीं होती, चाहे कभी एक संबोध्य तत्काल कितना भी महत्त्व क्यों न रखता हो और एक कालावधि विशेष के पाठक को भी संबोधित नहीं होती, कविता वस्तु नहीं है, अनुभव है, अनुभव भी विशेष प्रकार की साझेदारी का, वह जितनी कवि में है, उतनी ही अपने श्रोता या पाठक में है, दोनों में शब्दार्थ, एक बीच वाली धारा का काम करते हैं। ये शब्दार्थ कवि की समकालीनता से सपृक्त रहते हैं, पर साथ ही एक ऐसी संवेदना की संभावना रखते हैं जो उन्हें दूसरे जमाने में पहुंचाने का वेग देती है। जब नदी तेजी से मोड़ लेती है तो कई बार सौ-सौ हाथ पर उसका पिछड़ा मोड़ नहीं दिखाई पड़ता, ऐसी तेजी में आगे-पीछे दोनों ओर के संदर्भ कटते-से लगते हैं और जहां तक नदी दिखती है, वहीं तक वह सार्थक लगती है। आज की कविता कुछ-कुछ ऐसे ही दौर से गुजर रही है, इसलिए 'आज की कविता' में 'आज की' विशेषण अधिक रेखांकित हो गया है।

इस विशेषण के कारण ही एक दुविधा भी उपस्थित हो गयी है, आज किसका, कवि का, उसके संबोध्य समाज का, उसकी भाषा बोलने-समझने वाले समाज का

या जिस भाषा को बोल-समझकर कवि आज में जगा है उस भाषा के बोलने-समझने वाले का। कुछेक लोग हैं जो कहते हैं कि आज के मक्कारों या मक्कारों से स्वप्न-सम्मोहित किये गये दिग् विमूढ़ लोगों के लिए मेरी कविता नहीं है, यह कविता कल के लिए है, आज तुम मुझे सुन नहीं सकोगे। वे इसलिए नहीं कहते कि आज की भाषा से वे आश्वस्त नहीं हैं, वे तो आज के औपचारिक भाषा-व्यवहार की मक्कारी से बेजार हैं, आज की भाषा की सोयी हुई, दबी हुई सिधाई और सच्चाई की छटपटाहट वे पहचानते हैं, वे अपने समाज को, उसकी सही और नकली संवेदना को पहचानते हैं, इसलिए यदि उनकी कविता में एक दिये हुए चालू मुहाविरे से बगावत करने का भाव दिखाई पड़ता है तो यह समकालीनता के तीव्र दबाव का प्रमाण है, समकालीनता की उपेक्षा का नहीं। कुछ दूसरे हैं जो अधिक आश्वस्त हैं कि हमारी रचना इसी जमाने को संबोधित है, इसी जमाने को आगे बढ़ाने की बात कर रही है, वह जमाने के रंग में घुली हुई है, उसे सामाजिक यथार्थ की पहचान है, ऐसे कथ्य को बार-बार उसी शब्द से दुहराना दोष नहीं मानते, गुण मानते हैं क्योंकि उन्हें दुहराने से, दूसरे शब्द और दूसरे कथ्य अपने-आप ओझल होते रहते हैं, उनकी सुगबुगाहट कभी होती भी है तो उसे टाल जाते हैं क्योंकि कविता एक सचेत कर्म है, बहुत कुछ छांटने का, थोड़ा-सा चुनने का। दोनों ही दशाओं में समकालीनता का दबाव असंतुलन लाता है, एक में इसलिए कि समकालीन भाषा में रहते हुए ही उसका अतिक्रमण संभव है, जो कविता अपने समकालीन समाज को संप्रेष्य नहीं होगी, उसकी आगे भी संप्रेष्यता एक प्रश्नचिह्न बनी रहेगी और दूसरी में इसलिए कि समकालीनता कोई ठहराव नहीं है, यह निरंतर जांचते रहने की प्रक्रिया है, इस प्रक्रिया में कोई भी प्रश्न, कोई भी संशय अनसुना या अनजांचा रह जाता है तो रचना तमाशा बन जाती है। दोनों अतिरेकों से बचकर निकलना आसान नहीं है, पर कविता स्वयं ही कहां आसान है, कविता समझना भी कहां आसान है।

आज समकालीन कविता की रचना और भी कठिन हो गयी है, क्योंकि संप्रेषण आमने-सामने बहुत कम है, जो है वह छपे हुए कागज के माध्यम से, आमने-सामने है भी तो जिनके बीच है वे दोनों संवादिता की स्थिति में नहीं हैं। कवियों के बीच में भी कविता पाठ किन तनावों के बीच होता है, यह कविता पढ़ने वाला ही जानता है। आज का कवि-श्रोता भी दूसरे की रचना संपृक्तभाव से नहीं सुनता, तटस्थ होकर सुनता है। जो लोग कवियों को बहुत आदर से बुलाते हैं, बड़ा शानदार आतिथ्य-सत्कार करते हैं, वे भी कवियों को कांस्य के नटराज या खूबसूरत रेडियोग्राम या किसी आधुनिक पेंटिंग के साथ-साथ ही जटित या खचित करके अपने मित्रों के सामने प्रस्तुत करते हैं। वाचक कवि को आमने-सामने अपना हृदयसंवादी संप्रेष्य नहीं मिल पाता, इसीलिए अपनेको जांचने की

इस राह को वह बंद पाता है। उसका जांचना पराश्रित हो जाता है, आलोचक या समीक्षक की जांच ही एकमात्र भली-बुरी जांच रह जाती है। और वह जांच कितना उछालती है, कितना गिराती है, इस पर कुछ टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं। समकालीन कविता को समझना भी कुछ-कुछ तो इस आमने-सामने सही संवाद के अभाव के कारण और बहुत कुछ काव्य-शिक्षण की जड़ता के कारण कठिन हो गया है। अधिकतर अध्यापक यह कहकर निकल जाते हैं कि भाई, मैं तो यह सब समझता नहीं, मुझसे तुलसी-सूर-जायसी पढ़वा लो, काव्य-शास्त्र पढ़वा लो, पाश्चात्य समीक्षा भी पढ़वा लो, आधुनिक कविता नहीं पढ़ायी जाएगी और ऐसा कहते हुए वे बहुत गर्व का अनुभव करते हैं, जैसे कि वे एक अपराध से बच गये हों। जो पढ़ाने के लिए उत्साह दिखलाते भी हैं वे कविता को खेमों में बांट देते हैं और कहते हैं कि मैं तो बस इस खेमे की कविता पढ़ाऊंगा और वे कविता की जगह खेमा पढ़ाते हैं, वाद पढ़ाते हैं, दर्शन पढ़ाते हैं, समाज-शास्त्र और इतिहास पढ़ाते हैं, वह भी अपना नहीं, दूसरों का। वे यह देख नहीं पाते कि कविता ही एक ऐसी जगह बची है (शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत के अलावा) जहां मानवीय संवेदना निराकार और निर्गुण अपरिभाषित रूप में नहीं, बल्कि सगुण साकार रूप में अभिव्यंजित है, कविता के बाहर चाहे पंचमी, पूनो या चैत-बैसाख, सावन-भादों या अपना देस-कोस न आये, पर कविता में तो वह शरणार्थी नहीं, अधिष्ठित देवता है। जो लोग कविता की इस जमीन को नहीं छू सकते, वे बस हवाई बातें करते हैं, मूल्यों की चर्चा करते हैं, रात्रि की चर्चा करते हैं, नयी सुबह की चर्चा करते हैं, नयी रोशनी और नयी हवा की चर्चा करते हैं, पर वे फूलों के रंगों और उनकी गंधों की अलग-अलग पहचान नहीं कराते। परिणाम समकालीन कविता एक कटे हुए पेड़ के रूप में पढ़ने वाले के सामने रख दी जाती है। अब :

> 'फूल लाया हूँ कमल के
> क्या करूँ इनका'

का अनुत्तरित प्रश्न भर गूंज कर रह जाता है।

इन मुश्किलों के बीच भी कविता लिखी जा रही है, कुछ न कुछ पढ़ी और कुछ कम ही सही गही भी जा रही है, गनीमत है कि आदमी खोते-खोते भी इतनी याद रखता है कि हम उनके हैं, जो रचते हैं, और अपने लिए नहीं रचते, शायद अपने लिए रचा जा नहीं सकता, किसी वस्तु का नाश भले अपने भोग के लिए किया जाए, पर रचना तो दूसरे के लिए होती ही है, दूसरा जो कि दूसरा भी है, अपना भी है। समकालीन कविता का न तो आलोचक हूं, न मर्मज्ञ, न रचनाकार, मैं उसका पाठक हूं, इसलिए कि मैं कवितामात्र का पाठक हूं, पूरी कविता का पाठक हूं, मैं कोशिश करता हूं कि किसी भी जमाने या किसी भी देश की कविता

की संवेदना दो कूलों से पहचानूं, एक तो उस कूल से जहां मैं खड़ा हूं, और फिर उस कूल से जहां रचनाकार था। अपनी भाषा में भी अपने समय की समकालीन रचना में भी ये दोनों कूल रहते हैं—दोनों के बीच में दूरी जरूर बहुत कम हो जाती है। मैं कवि के व्यक्ति से सहमत होने के लिए कविता नहीं पढ़ता, मैं कवि के उस प्रयोजन से जुड़ने के लिए कविता पढ़ता हूं, जिसके कारण उसने अपने व्यक्ति के बावजूद अपनी वह चिंता बंटानी चाही, जो मेरी और बहुतों की हो सकती थी। समकालीन कविता के संदर्भ में यह कठिनाई जरूर आती है कि कई कवि हैं जो व्यक्तिगत मित्र होते हैं, कई कवि व्यक्तिगत रूप से तटस्थ होते हैं, इसलिए वहां व्यक्ति को रचना से अलग करने में कभी भी कठिनाई जरूर होती है, पर मैं अलग कर लेता हूं, क्योंकि मैं अपनी मैत्री इनके कमज़ोर धागों पर नहीं टिकाता। अधिकांश कवियों से मैत्री का आधार है, हिंदी और हिंदी को विरासत में मिली हुई सर्वदेशीय कविता की उन्मुक्त दृष्टि, जिसमें न कोई भद्र-अभद्र लोक है, न आर्य-द्रविड़ है, न ग्राम्य-नागर है।

मैं समकालीन कविता में विशेष रुचि इसलिए लेता हूं कि मुझे उसमें कबीर, सूर, तुलसी, पंत, प्रसाद, निराला सभी जीते-जागते मिलते हैं, उनकी रचना के स्वर संवरते मिलते हैं, अधमने भाव से दुहराये या किनराये नहीं मिलते। यही नहीं, समग्रता की चिंता में स्वाधीनताप्राप्ति के बाद की कविता में युगों पुराने और नये क्लासिक साहित्य, लोक-साहित्य और विश्व-साहित्य की संवेदनाओं को परखने और उनकी परख की पीड़ा का जोखिम उठाने का साहस मिलता है। जो लोग नाक के नीचे देखते हैं, उन्हें ही आज की कविता कटी लगती है, पर जो इसकी विस्तृत भूमि को देखता है, उसे यह न कटी लगती है, न अटपटी। देखने में लगता है आज की कविता बेगानेपन के नीचे दबी हुई है, पर बात ठीक उल्टी है, वह बेगानेपन के नीचे मनुष्य दब न जाए, इसके लिए प्राणप्रण से सचेष्ट है। भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीतफरोश' कविता कवि और पाठक के बीच के बेगानेपन को पाटने के लिए एक मसखरेपन का अंदाज अपनाती है तो उसके पीछे भाव यह है कि अत्यंत प्रतिकूल परिस्थिति में भी एक चिंता शेष रहती है, जो नहीं बिकती। धूमिल की 'किस्सा जनतंत्र' कविता में सारे के सारे मानवीय व्यापार, करछुल, बटलोही, चिमटे, तवा, चूल्हे, कठवत और थाली में स्थानान्तरित हो जाते हैं :

> करछुल
> बटलोही से बतियाती है और चिमटा
> तवे से मचलता है
> चूल्हा कुछ नहीं बोलता
> चुपचाप जलता है और जलता रहता है
> × × ×

लेकिन कठवत का पेट भरता ही नहीं
पतरमुँही (पैथन तक नहीं छोड़ती)
फरर फरर बोलती है और बोलती रहती है
···पहले उसे थाली खाती है
फिर वह रोटी खाता है।

और आदमी हो जाता है वस्तु, निरी वस्तु यहां तक कि जब वह लालबत्ती के कारण किसी चौराहे पर रुकता है, तभी उसे गतिरोध में अपनी मानवीय सत्ता का स्मरण होता है :

ऐसी क्या हड़बड़ी कि जल्दी में पत्नी को
चूमना
देखो, फिर भूल गया।

यह फिर भूल जाना एक निर्मम विमानवीकरण की परिस्थिति के दंश को तीव्रतर बनाता है, और कवि ने जो बेगानेपन को उभारा तो इस दंश के आगे उसे नगण्य बनाने के लिए।

बेगानापन समकालीन कविता का मूल्य नहीं है, वह मूल्य-चिन्ता का उद्‌बोधक कारण जरूर है। मूल्य तो मनुष्य की आत्मीयता की तलाश है, पर नकली और औपचारिक आत्मीयता की तलाश नहीं, सही और सजीव आत्मीयता की तलाश, जिसमें किसान को वर्षा की प्रसन्नता में चिड़ियां ढोल बजातीं, काली दिशाएं शहनाई बजातीं और तरु-तरु शंख बजाते सुनायी पड़ते हैं। इस आत्मीयता की भाषा में अपने-आप एक सहजता आती है, सड़क की भाषा का खुरदुरापन आता है, वह आप अज्ञेय की कविता में पाएंगे। जैसे :

इस पर्वती गाँव में
छोटी से छोटी चीज की भी दरकार है,
आज की भूख बेबसी की
बेमुरव्वत यार है।
कल के लिए हमें
नाज का वायदा है
आज ठेकेदार को
हमारे पेड़ काट ले जाने दो

दुष्यंत की कविता में पाएंगे :

दुकानदार तो मेले में लुट गये यारो
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गये।

पर सबसे अधिक जो विशेषता मुझ जैसे संस्कृत काव्य में दीक्षित पाठक को खींचती है वह है सामने के, आसपास के अपने जीवन को जीने का दुर्निवार संकल्प।

जीवन का यह लगाव चाहे प्यार, चाहे नफरत, चाहे प्यार और नफरत को न दिखने की खीझ, चाहे गुस्सा, चाहे दर्द, चाहे हंसी-दिल्लगी, चाहे आक्रामक मुद्रा के रूप में व्यक्त होता हो, पर वह लगाव ऐसे विकट समय में है, जब चीजें बिखरती जा रही हैं, केंद्र टूटता जा रहा है, समूह-संचार-साधन आदमी और आदमी के बीच में पारदर्शी दीवार बनकर खड़े हो गये हैं और जब पलायन के कई प्रकार के द्वार खुल गये हैं, कुछ गुफाओं की ओर, कुछ महलों की ओर, तो कुछ सागर और पर्वत की बौनी प्रतिकृति की ओर, साधारण जिंदगी का आस्वाद जीभ में बनाये रखना बड़ी उपलब्धि मानता हूं।

(ग्वालियर लेखक शिविर में वक्तव्य)

नये मूल्यों की तलाश : धर्म के स्तर पर

इसके पहले कि धर्म के क्षेत्र में नये मूल्यों की तलाश की बात करूं, धर्म और मूल्य इन दो शब्दों को और अपने देश के आधुनिक संदर्भ को थोड़ा स्पष्ट करना आवश्यक होगा। धर्म शब्द मजहब या रेलीजन के अर्थ में या किसी विशेष कर्मकांड के अर्थ में नहीं प्रयोग कर रहा हूं, ठीक-ठीक कहूं तो धर्म का अर्थ जीने के तौर-तरीके में एक ऐसा सामंजस्य है, जो गति तो बनाये रखता है, पर विश्रृंखलता नहीं आने देता। धर्म कोरा अध्यात्म नहीं है, न कोरा पूजा-पाठ, न जप-तप या ध्यान-धारणा ही है, वह समूचा जीवन है, जिसका एक आयाम तो देश-काल जरूर है, पर उसके साथ-साथ एक दूसरा भी आयाम है, अपने-आपको लांघकर आगे जाने का भाव और यहीं वह ऋतु है, ऐसी गति है, जो दूसरी गतियों को निश्चितता देती है। दूसरे शब्दों में धर्म बदलते हुए समाज और व्यक्ति के बीच, परिवर्तनशील प्रकृति और मनुष्य के बीच लयबद्धता को जांचता रहता है, जरूरत पड़ती है तो अपनेको पुन: नवपरिभाषित करता है, अपने पुराने स्वरूप को तजकर नया स्वरूप धारण करता है, पर अपनी प्रकृति, अपना स्वभाव कभी नहीं खोता। उसका स्वभाव है, गति का धारण, गति को धारण करने के लिए अपने को संतुलित करते रहना। धर्म के इस व्यापक संदर्भ में ही मूल्यों की तलाश की बात करने जा रहा हूं। अब मूल्य पर आता हूं। भारतीय चिंतन में इसका समकक्ष शब्द है, अर्थ, उसी को और स्पष्ट करने के लिए उसे पुरुषार्थ नाम से भी पुकारा गया है। परंतु मूल्य और पुरुषार्थ में एक अंतर है। मूल्य में प्रयोजन का भाव कुछ दबा-दबा रहता है, मान का या तारतम्य का अपेक्षाकृत अधिक का भाव अधिक उभरा रहता है। इसलिए मूल्य परस्पर-विरोधी भी हो सकते हैं, जब कि पुरुषार्थ में क्रमिकता और परस्परता पर अधिक बल है। अकेले काम जीवन का लक्ष्य नहीं, अकेले अर्थ जीवन का लक्ष्य नहीं, अकेले धर्म भी लक्ष्य नहीं और इन तीनों को साधे बिना मोक्ष भी लक्ष्य नहीं, और मोक्ष सध भी

जाए तो वह चरम लक्ष्य नहीं, चरम लक्ष्य समस्त चर-अचर प्राणियों में एक अव्यय, एक न चुकने वाला भाव पाना है, जो पाना भी है, होना भी है और इसीलिए वह काम, अर्थ, धर्म या मोक्ष, किसी एक का या चारों का परिहार नहीं संग्रह है और किसी एक या चारों का संग्रह संग्रह के लिए नहीं, उत्सर्ग के लिए है। इस दृष्टि से मूल्य कुछ छोटा पड़ता है, पुरुषार्थ से। मैं जब नये मूल्यों की तलाश की बात करता हूं तो मूल्य का प्रयोग पुरुषार्थ के अधिक व्यापक और समग्र अर्थ में करना चाहता हूं। अब तुरंत यह प्रश्न उठेगा कि धर्म तो स्वयं एक पुरुषार्थ है, धर्म में नये पुरुषार्थ की खोज क्या होगी? इस प्रश्न का समाधान यह है कि चार या पांच पुरुषार्थों में गिनाया गया धर्म और प्रयोजनवत्ता या सार्थकता या मूल्यवत्ता के लिए परिचालित करने वाला धर्म ये दोनों अलग-अलग धारणाएं हैं; एक है व्यावहारिक, दूसरा है पारमार्थिक; एक है साधक, दूसरा है साधन की योग्यता की जांच और ऐसी जांच सतत चलती रहती है, क्योंकि परिस्थितियां बदलती रहती हैं और परिस्थितियों से गुज़रने वाला मनुष्य भी बदलता रहता है। जिस धर्म में हम नये मूल्यों या नये जीवन-प्रयोजनों की तलाश की बात करना चाहते हैं, वह धर्म दूसरी कोटि में आता है।

एक बात और अभी रह गयी। भारत के देश-काल में हम इस खोज की प्रक्रिया को जांच रहे हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत के बाहर इसकी प्रामाणिकता या संगति नहीं है या कम है। बस, इतना है कि भारत के चौखटे में इस जांच को परखने में कुछ अधिक सुविधा है, भारत के लंबे इतिहास में इस प्रकार की तलाश की निरंतर अनवच्छिन्न धारा देखी जा सकती है और इसलिए नयेपन को नापना भी अधिक आसान हो जाता है। एक-दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी। यज्ञसंस्था ने वैदिक युग में मनुष्य और प्राकृतिक शक्तियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में या सामाजिक चेतना या सामाजिक सहभागिता के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, पर उसकी जब गहरी जांच हुई तो यज्ञ का कर्मकांड कुछ छोटा पड़ गया और यज्ञभाव की साधना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी। यह यज्ञभाव ही उपनिषदों में ब्रह्मभाव हुआ, पर ब्रह्मभाव भी अपने निरपेक्ष और केवल रूप में अपर्याप्त लगा और अवतीर्ण होने वाले नारायण अधिक काम्य या अन्वेषणीय हो गये। नारायणभाव भी मध्ययुग में भक्ति के आगे और भक्ति के कारण भक्त के आगे विवश हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भक्ति की विवशता राष्ट्रीय उत्थान के प्रयत्न के रूप में पुन: परिभाषित हुई। इस प्रकार पुरुषार्थ में नये शिखर का बोध होता रहा, और यह बोध व्यापक धर्म के क्षेत्र में होता रहा। यहां यह भी जोड़ना आवश्यक है कि प्राचीन और मध्ययुग दोनों में चरम मूल्यवत्ता की खोज सभी संप्रदायों में (मैं संप्रदाय का प्रयोग आज के संकीर्ण और बदनाम अर्थ में नहीं कर रहा हूं, मैं इसका प्रयोग इसके मूल अर्थ

में कर रहा हूं) धर्म के क्षेत्र में समानांतर रूप से हुई, प्राचीन काल में तीर्थंकर, बोधिसत्त्व और अवतार ये तीन अवधारणाएं एक ही उद्देश्य में साधक बनीं, मध्य-काल में संत, औलिया, फकीर या सिद्ध की अवस्थिति समान रूप से विश्व-चेतना और आत्म-चेतना के विलय की अवस्थिति के रूप में सर्वमान्य हुई। आधुनिक युग के आरंभ में भी स्वाधीनता के लिए उत्सर्ग की भावना समान रूप से भिन्न-भिन्न वर्गों में विकसित हुई। इस प्रकार हम स्पष्ट देख सकते हैं कि एक युग का साध्य दूसरे युग में साधन बनता गया है।

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह तलाश एक बड़े खुले मैदान में हुई है, जिसमें मनुष्य को घेरने वाली दीवारें नहीं हैं, बस उसका आकाश है और उसके नये-नये रंगों वाले क्षितिज हैं। पश्चिम अर्थात् ब्रिटेन के माध्यम से निर्यातित पश्चिम ने हमारी मूल्य अवधारणा को थोड़ा संकरा बनाने का यत्न किया, एक ओर तो उसने व्यक्ति की निजता की एक अपरिचित और शायद इसीलिए बड़ी मोहक तस्वीर खड़ी की और इस तस्वीर पर सब कुछ न्यौछावर करने की आकांक्षा जगायी, दूसरी ओर इसने वर्गसंघर्ष को अधिक रेखांकित करके व्यक्ति के विवेक को एकदम नगण्य बनाने वाली सामाजिक श्रद्धा या कभी-कभी अद्धा का रंग चढ़ाया। दोनों अतिरेक आगे-पीछे आये और दोनों राजनीति में उतर गये, इनमें से कोई भी भीतर से बाहर और बाहर से भीतर गतिशील धर्म में नहीं प्रविष्ट हो सका, दोनों हवा में टंगे रह गये। लगा कि वे छा गये, वे भिन गये, पर वस्तुतः वे जड़ता की ही स्थिति लाने में, वैचारिक शून्यता उत्पन्न करने में या तटस्थ निष्क्रियता या कोरी बहसबाजी को बढ़ावा देने में अधिक प्रभावी रहे। थोड़ी-बहुत हलचल जो उन्होंने पैदा की, वह हलचल विस्थापन के रूप में ही अधिक दिखाई पड़ी, सक्रिय और सोद्देश्य सामाजिक गतिशीलता उनसे नहीं सधी।

आश्चर्य की बात यह है कि गांधी, लोहिया और जयप्रकाश जैसे विचारकों के देश में कोई गहरे स्तर पर मूल्यों की तलाश की चिंता नहीं हुई। गांधी जी ने आस्तिक सनातनी हिंदू रहते हुए सभी विश्वासों के प्रति न केवल आदर व्यक्त किया, बल्कि भारत के समस्त विश्वासों से समूचे भारत की प्रकृति के अनुरूप जीवन-धर्म का एक घोषणा-पत्र अपनी 'हिंदू स्वराज्य' पुस्तक में तैयार किया, वह स्वाधीन भारत की गीता, इंजील और कुरान तीनों बन सकती थी, पर वह बिना परीक्षण के ही ताख पर रख दी गयी। लोहिया ने देश के विभाजन के बाद की परिस्थितियों में भारत में समान रूप से सभी वर्गों को मान्य मानवीय मानदंडों को आधार मानकर सप्तक्रांति की एक रूपरेखा प्रस्तुत की और वह रूपरेखा उन्हींके नजदीक के लोगों ने गिरवी रख दी। जयप्रकाश तो अपने ही भक्तों के बीच में अजनबी हो गये। इन तीनों विचारकों में एक कमी थी, ये राजनीति से परे भी सोच सकते थे और राजनीति को मूल्यों के पास पहुंचा सकते थे, क्योंकि इनके

लिए राजनीति धर्म थी। धर्म के तथाकथित क्षेत्र में भी जो प्रयत्न हुए, वे सुरक्षा-त्मक रहे, फकीरी ठाट की धार्मिक परंपरा ने अपना ठाट ही बदल दिया। चिंतन के शैक्षिक दावेदारों की स्थिति और भी दयनीय रही, वे आयातित सांचों और परिभाषाओं को फेंटते रहे, सांचे और परिभाषाएं उठीं ही नहीं।

परंतु इस विस्थापन से अलग कुछ घटित होता रहा और हो रहा है। हां, यह अधिकतर भूगर्भवर्ती जलस्रोतों में घटित हुआ, सतह पर इसका प्रभाव भी अभी बहुत संलक्ष्य नहीं हुआ है। मेरा संकेत साहित्य-रचना के क्षेत्र से है। साहित्य में एक गहरी चिंता है, जीवन का अर्थ पाने की, इस चिंता का उत्स है असंतोष उस सबसे जो उसे अर्थ के रूप में दिए हुए मिले हैं, व्यक्ति का मोक्ष हो या विश्वसत्ता में विसर्जन हो या सामाजिक स्वाधीनता हो या व्यक्ति की स्वतंत्रता हो इन सबसे असंतोष है, तभी चिंता है। कभी-कभी यह असंतोष स्वधर्म से भी हो जाता है यह लिखना निरर्थक है, यह भाव प्रबल हो उठता है। यह चिंता अनेक प्रश्नों से जूझी है, ये कैसे मूल्य जो मनुष्य को मनुष्य की हत्या, एक पूरे वर्ग से घृणा के नाम पर उस वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति से घृणा के लिए उकसाते हैं, ये कैसे मूल्य जो ईश्वर में सिमटाकर मनुष्य को करुणा की धारा से काटकर अलग कर देते हैं, ये कैसे मूल्य जो आदमी को परिवेश के अधिपति के रूप में स्थापित करते हैं और उसके अहंकार को आस्फालित करके उसे वेध्य बना देते हैं और ये कैसे मूल्य जो उसे एक जड़ सामाजिक व्यवस्था के आग्रह में जीव को जीव रूप में देखने से विरत करते हैं? कोई कहीं चूक करता है, कोई कहीं दूसरे से पीड़ित होता है, कोई कहीं दूसरे को उत्पीड़ित करता है तो हम भले हैं, अलग-थलग रहें, यह निर्मम और कायर उदासीनता देते हैं।

ये प्रश्न प्रायः अनुत्तरित रहते हैं, पर इन्हें छेड़े रखना भी यदि संभव होता है तो इसलिए कि इन प्रश्नों को छेड़ने में धर्म का भाव है। अकेले एक प्रश्न धर्म नहीं बनता। शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय ने कहा कि एकनिष्ठ प्रेम सतीत्व के आदर्श से क्या बड़ा नहीं है, प्रेमचंद ने 'गोदान' में एक प्रश्न छेड़ा क्या होरी का नैतिक मूल्य-बोध अनिवार्य रूप से दुःखप्रद परिणाम नहीं लाता, अज्ञेय ने एक प्रश्न छेड़ा क्या नंदादेवी निरी वस्तु है, धूमिल ने एक प्रश्न छेड़ा कि क्या जनतंत्र व्यर्थ है तो अलग-अलग ये सभी प्रश्न धर्म नहीं हैं, पर देश-काल के चौखटे में मनुष्य को गतिशील बनाने वाले धर्म की व्यापक धारणा से ही ये सभी उद्भूत हैं। इन प्रश्नों के छिड़ने का प्रभाव कई स्तरों पर देखा जा सकता है।

व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठा मिली है। वह किसी जाति का हो, किसी व्यव-साय में हो, किसी भी प्रकार के आचार-विचार का हो, वह हेय या उपेक्षणीय नहीं है, सिर्फ इतना ही नहीं, वह सम्मान की अपेक्षा रखता है, इस अवधारणा का विकास हुआ है। इसीलिए प्रत्येक समस्या का समाधान समतल करने वाले

बुलडोजर में नहीं ढूंढ़ा जाता। असम या मिजोरम या मणिपुर के असंतुष्ट तत्वों की समस्या का मानवीय समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न इसी उदार भाव से प्रेरित है। इसने प्रादेशिकता को उभारा है, यह सही है पर इसने निराकार राष्ट्रीयता पर प्रश्नचिह्न लगाया है, और यह महत्त्वपूर्ण है। इसने तितिक्षा का भाव पैदा किया है।

दूसरी ओर इन प्रश्नों ने व्यक्ति के उपभोग की आकांक्षा पर अंकुश लगाया है, श्रीमद्भागवत में एक जगह कहा गया है :

> यावद् भ्रियेत उदरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

आदमी का पेट जितने से भरे, उतना ही उसका स्वत्व है। इससे अधिक जो अपना मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए। समृद्धि का असीमित उपभोग पाप है, यह धारणा तीव्रतर हुई है। परंतु बांटकर खाने के सुख का भाव कुछ उतना प्रवल नहीं हुआ है, प्रबल रहता तो एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा यूनिडो विफल नहीं होता। अभी तक सपन्नता नियामक नहीं बनी रहती।

धर्म का एक तीसरा क्षेत्र है, जहां एक और गहरे मूल्य की चिंता दिखाई पड़ती है। वह है जीव-सृष्टि के चक्र में मनुष्य की क्या भूमिका हो, इसे जानने और उसके अनुसार अपने आचरण को ढालने का प्रयत्न करने की चिंता। उन लोगों द्वारा भी यह प्रयत्न हो रहा है, जो अपने धार्मिक विश्वास के कारण यह मानते रहे हैं कि ईश्वर ने यह पृथ्वी मनुष्य के उपभोग के लिए रची। (हम लोग केवल इस दंभ में पड़े हुए हैं कि हमारी संस्कृति समस्त जीवन में एक अंतरवलंबिता देखती आयी है।) मनुष्य का बड़प्पन उपभोक्ता होने में या सृष्टि का नियामक होने में नहीं है, यह बात सोची जाने लगी है, क्योंकि मनुष्य के इस प्रकार के अहंकार ने सृष्टि-चक्र को विस्थापित करना शुरू कर दिया है और जीवन के विनाश की संभावना उठ खड़ी हुई है।

यह सही है कि मनुष्य में अभी भी अर्पण का भाव बहुत अस्पष्ट है, पर वह इसलिए कि उसकी धार्मिक चेतना विश्वास से अंधराये दर्पण की तरह मलिन हो गई है, उसमें ठीक-ठीक न मनुष्य, न उसका विश्व प्रतिबिंबित हो पाता है। मृत्यु के साक्षात्कार ने ही अर्जुन को गीता के उपदेश का अधिकारी बनाया, कदाचित् इसी प्रकार विनाश की संभावना के प्रति प्रखर जागरूकता ही इस दर्पण को मांज सके और आदमी की धार्मिक चेतना इस मूल्य की ओर अभिमुख हो सके कि व्यष्टि समष्टि है, व्यष्टि का प्रत्येक प्रयत्न समष्टि का और समष्टि के लिए प्रयत्न है और जीवन का प्रयोजन सर्वजीवन है, इस सर्व में मनुष्य समाज है, प्राणि जगत् है, वनस्पति जगत् है, पहाड़-नदी-सागर है, ग्रह-नक्षत्र है, पंचमहाभूत है, अनुभव है, अनुभव करने वाला है, अनुभव का विपय है। इस मूल्य की तलाश जितनी ही

तेजी से होगी, उतनी ही व्यवस्था का केंद्रीकरण टूटता जायेगा और आत्म-अनुशासित विकेंद्रित व्यवस्थाएं जड़ पकड़ती जायेंगी, मनुष्य की स्वाधीनता पर को अधीन बनाने के लिए नहीं, स्व को स्व के अधीन बनाने के लिए प्रेरित होगी, उसका स्वत्व छोटा होगा, पर उसका स्व विस्तृत।

हिंदुस्तान का समाज सपने में बड़बड़ाने वाला समाज है इसलिए उसका धर्म इस समय सिर्फ एक पैर पर खड़ा है, वह पैर है सत्य, सत्य जो सबका होता है, केवल अपना नहीं होता। दूसरे का सत्य भी उतना ही सच है, जितना अपना। बस केवल यही पैर जमीन पर टिका हुआ है, पर धर्म चल नहीं पा रहा है।

उसे परिचालित करने के लिए बराबर दारुण संकट की अपेक्षा पड़ती रहती है और यह एक शोचनीय स्थिति है। वैसे यह अलग बात है कि दारुण संकट ऐसे बड़बोलेपन वाले समाज में अपरिहार्य रूप से आता ही रहता है, पर ऐसा दारुण-संकट न आ जाय कि प्रयत्न की संभावना भी समाप्त हो जाय, इस चिंता के कारण जीवन के वरणीय मूल्यों की जांच और तब आवश्यकता हो तो नये मूल्यों की तलाश शुरू करने की तात्कालिकता और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी है। हिंदुस्तान के बहुभाषी, बहु-विश्वासी और बहु-आचारी समाज और इसकी बहुरंगी प्रकृति में समान रूप से अनुस्यूत कोई भाव नहीं है, इसे पहचाने बिना यह तलाश आगे भटक जायेगी। इसलिए ऐसे भाव या समान धर्म को सबसे पहले परिभाषित करना चाहिए, जो सभी वर्गों का अतिक्रमण करने वाला हो, पर सबमें हो। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हम अपने इस भाव को भूल कर मूल्य तलाशते रहे, मूल्य जो हमारे नहीं थे, हमारे लिए नहीं थे, हमारे द्वारा तलाशे हुए मूल्य नहीं थे, और हम नये मूल्यों की तलाश करते-करते अपने को मूल्यहीन पाने की दुरंत स्थिति में आ गये हैं। अभी समय है कि दूसरे छोर से तलाश की प्रक्रिया शुरू करें, यह समझना शुरू करें कि जीवन जीवन की निरंतरता और पूर्णता और एकता के लिए उत्सर्ग है और हमारे ये मूल्य ही वरणीय हैं।

संस्कृत शिक्षा का स्वरूप

संस्कृत शिक्षा के महत्त्व के अनुरूप उसका स्वरूप निर्धारित होना चाहिए। संस्कृत शिक्षा के महत्त्व के बारे में कुछ भ्रम है। कुछ लोग इसे निरे आध्यात्मिक प्रयोजन की वस्तु मानते हैं और संस्कृत शिक्षा को भौतिक सुख-समृद्धि के विरोध में स्थित देखते हैं, दूसरे लोग नकली या अधूरी आध्यात्मिकता के प्रवाह में संस्कृत वाङ्मय को बहुत बड़े अंश में केवल भौतिक सुखों और ऐंद्रिय विलासों की ही छटा पाकर इसमें काट-छांट करके शिक्षा में इसे स्थान देना चाहते हैं, कुछ लोग संस्कृत के दार्शनिक वाङ्मय को धर्म से संपृक्त देखकर समझते हैं कि उस वाङ्मय का चिंतन आधुनिक तर्कवादी जीवनदृष्टि के लिए निरर्थक हो गया है, वहीं पर कुछ लोग संस्कृत की तर्क-पद्धति के विकास को 'शुष्क अतिशास्त्रीयता' के रूप में देख-कर उससे बिदकते हैं, कुछ लोगों को संस्कृत वाङ्मय बड़ा विज्ञान-विरोधी लगता है तो कुछ लोग केवल वैज्ञानिक दृष्टि से ही उसे मूल्यवान् समझते हैं। पर इन सभी भ्रमों का निराकरण केवल एक वाक्य में किया जा सकता है, 'संस्कृत वाङ्-मय की विश्व-दृष्टि एक अखंड दृष्टि है जिसके अनुसार विश्व के स्थूल-सूक्ष्म दोनों रूप एक-दूसरे में प्रतिबिंबित हैं, एक-दूसरे से अनुप्राणित हैं और जिसके अनुसार निरंतर संतानवाहिता ही जीवन का लक्षण है, इसी कारण संस्कृत वाङ्-मय में एक समग्रता है, जो आध्यात्मिक-भौतिक, ऐंद्रिय-अतींद्रिय, पारमार्थिक-व्यावहारिक, विषय-विषयी जैसे युग्मों को विरोधी कोटियों के रूप में नहीं देखती।' संस्कृत वाङ्मय की यह विश्व-दृष्टि इसीलिए केवल भारत के लिए या केवल प्राचीन काल में सार्थकता रखती हो, यह बात नहीं, उसकी सार्थकता पहले से आज समूचे विश्व में अधिक घनी हो गयी है। संस्कृत में निहित भारतीय ज्ञान-प्रवाह सनातन मूल्य रखता है, इस बात को कुछ अधिक विस्तार से जान लें तो संस्कृत वाङ्मय की सनातन प्रासंगिकता की पहचान ठीक तौर से हो सकेगी।

यह मनुष्य के स्वभाव में है कि वह अतीत, वर्तमान और भविष्य में एक साथ जिये बिना रह नहीं सकता। अतीत से जुड़ने के पीछे पलायन का भाव चाहे किसी दूसरी मानव जाति में मिलता हो—पर भारत में अतीत से जुड़ने का अर्थ वर्तमान की संभावना का विस्तार होता है, वर्तमान से पलायन नहीं। इसी प्रकार भावी सुख की कल्पना इन्हीं किन्हीं विचार दर्शनों में वर्तमान की प्रेरक भले ही हो, किंतु भारतीय जीवन-दृष्टि अनागत सुख की कल्पना में वर्तमान को विस्मृत नहीं करती, वह अनागत को वर्तमान की संतति या फैलाव की दिशा के रूप में ही स्वीकार करती है। वर्तमान केवल अतीत के सनातन शाश्वत मूल्य को भविष्यत् की यात्रा के पाथेय के रूप में सौंपने वाला एक माध्यम है, किंतु एकमात्र माध्यम होने के कारण दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस दृष्टि से जब हम प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों पर विचार करते हैं तो सबसे पहले ज्ञान-विज्ञान को सही चौखटा देने वाली उस समय के मनुष्य की विश्वदृष्टि की ओर हमारा ध्यान जाता है। प्राचीन भूमध्यसागरीय लोगों की विश्वदृष्टि से भारतीय विश्वदृष्टि में एक मौलिक भेद है। पश्चिमी दृष्टि में प्रकृति या प्रकृति की शक्तियां मनुष्य से अलग हैं और इसीलिए इन दोनों में स्पर्धा है। मनुष्य के मन में प्रकृति को जीतने की बात आती है और प्रकृति की शक्तियों के प्रतिरूप देवता इस विजय-यात्रा में इसीलिए बाधा पहुंचाते हैं। इसके ठीक विपरीत भारतीय विश्वदृष्टि मनुष्य और प्रकृति दोनों को अविलग देखती है—बाहर जो सूर्य का प्रकाश है, वही भीतर बुद्धि का प्रकाश है, बाहर जो अंधकार है, वही भीतर भय है, बाहर जो तृण, वीरुध और वृक्ष में ऊपर उठने की प्रक्रिया है वही भीतर की उमंग है। इसीलिए मनुष्य और देवता में स्पर्धा नहीं है, सहकार है। मनुष्य देवता को प्रभावित करता है, देवता मनुष्य को। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का सबसे पहला केंद्र वैदिक यज्ञ-संस्था है और यह संस्था मनुष्य और देवता, आभ्यंतर और बाह्य, व्यक्त और अव्यक्त, चर और अचर को एक-दूसरे के लिए अपेक्षी बनाने वाली विधि है। इसलिए जहां पश्चिमी चिंतन मनुष्य को केंद्र में रखता है, मनुष्य की अप्रतिहत बुद्धि को केंद्र में रखता है, प्रकृति पर मनुष्य की विजय को मनुष्य का पुरुषार्थ मानता है तथा पूरी सृष्टि को मनुष्य का उपभोग्य, वहां भारतीय चिंतन कोई एक केंद्र देखता ही नहीं, उसका विश्व बहुकेंद्रिक है, मनुष्य के लिए देवता केंद्र है, देवता के लिए मनुष्य, वहां प्रकृति पर विजय नहीं, प्रकृति से सामंजस्य और समग्र अस्तित्व में परम सामंजस्य स्थापित करना ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है, समस्त भूतों के ऋण की परिशुद्धि ही परम पुरुषार्थ है, वहां न कोई निरपेक्ष रूप में भोक्ता है, न कोई निरपेक्ष रूप में भोग्य। या तो मनुष्य सहभोक्ता है या सभी सहभोक्ता हों इसके लिए अपने को अर्पित करने वाला भोज्य है। वह अन्न भी है, अन्नाद भी।

इस विश्वदृष्टि के आलोक में ही भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि और उस उपलब्धि की सनातन मूल्यवत्ता की बात की जा सकती है।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान का उद्देश्य वस्तुओं की पहचान मात्र नहीं है। उसका उद्देश्य समस्त वस्तुओं की पहचान करके उनमें उनकी प्रतीयमान सत्ताओं को अलग-अलग वर्गीकृत करके उनमें एक अव्यय भाव—एक न चुकने वाला भाव तलाशना है। जो ज्ञान-विज्ञान इस तलाश को अपने ध्येय के रूप से स्वीकार नहीं करता, वह अधूरा माना जाता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि इसका खंडित या अधूरा ज्ञान उपेक्षणीय है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के आरंभ में यवन अर्थात् ग्रीक ज्योतिर्वेत्ताओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए कहा है कि वे लोग भी महर्षियों की तरह पूज्य हैं क्योंकि ज्ञान कैसा भी हो, पवित्र होता है। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' भारतीय दृष्टि केवल अधूरे ज्ञान को अपने बड़े चौखटे में जोड़ने पर बल देती है वह उसको तिरस्कृत नहीं करती। भारत ने शिल्प, कला, ज्ञान, विज्ञान इन सभी क्षेत्रों में बाहर से लेने में संकोच नहीं किया पर देते समय यह ध्यान अवश्य रखा है कि जिसको दिया जाय उसको अपने से बड़ा मानकर दिया जाय, छोटा मानकर नहीं। जावा, कम्बोज, मध्य एशिया, कोरिया और जापान को भारत ने दिया, इन देशों की निजी प्रतिभा को बड़प्पन देते हुए दिया, उस प्रतिभा की भंगिमाओं को आत्मसात् करते हुए अपनी इयत्ता उन्हें सौंपी।

प्रायः कहा जाता है कि केवल दर्शन, ललित कला और साहित्य के क्षेत्र में ही भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण देन है, उसमें भारतीय दर्शन धर्म से उलझा हुआ है, उसके ऊपर दुःख का भूत चढ़ा हुआ है। भारतीय साहित्य और कला जहां धर्म से उलझे नहीं हैं, वहां मनुष्य की गरिमा को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे केवल सुखमय विलास का ही चित्र प्रस्तुत करते हैं। ऐसा कहने वाले यह नहीं सोचते कि धर्म स्वयं व्यापक अर्थ में हमारे यहां गृहीत है। वह न कोई विश्वास है, न एक निश्चित आचरण-संहिता, वह दोनों को अर्थ प्रदान करने वाला जीवन-धर्म का व्यापार है। इसीलिए धर्म से कोई चीज विलग हो ही नहीं सकती। अधर्म भी धर्म का निषेध या विरोध नहीं, धर्म की जड़ता ही अधर्म है और इस-लिए धर्म की गतिशीलता समस्त दर्शनों, साहित्यों और कलाओं पर छायी हुई है। न तो भारतीय दर्शन दुःखवादी है और न भारतीय साहित्य सुखवादी। भारतीय दर्शन दुःख की बात वास्तविक सुख की तलाश के लिए प्रेरक बिंदु के रूप में करता है और भारतीय साहित्य सुखमय परिणति को दुःख के विनाश के रूप में नहीं, बल्कि दुःख के अभिघातक गुण के विनाश के रूप में स्वीकार करता है। ग्रीक ट्रेजेडी में जिस प्रकार का करुण बोध है, वह करुण बोध मनुष्य की विवशता को द्योतित करने वाला है, मनुष्य की विवशता पर आधारित है। महाभारत जैसे

ग्रंथ में जो करुण बोध है वह मनुष्य के भीतर छोटे और बड़े धर्म के बीच छिड़ने वाले संघर्ष पर आधारित है। ग्रीक ट्रेजेडी में पतन की गरिमा है, क्योंकि पतन कुछ नियत कारणों से होता है। परंतु भारतीय काव्य में परिणति पतन की गरिमा में नहीं है, पतन की उपेक्षा करने वाली निस्संगता की गरिमा में और उससे अधिक निस्संग व्यक्ति की परदुःखकातरता में है। ओडीपोस के चरित्र में और युधिष्ठिर के चरित्र में यही अंतर है।

बहुत-से पश्चिमी आलोचक संस्कृत काव्य को घोर शृंगार का काव्य मानते हैं, ऐंद्रिय विलास का काव्य मानते हैं, क्योंकि वे यह समझ ही नहीं सकते कि ऐंद्रिय विलास भी ओछा नहीं, यदि वह एक बड़ी, एक-दूसरे के पर्युन्मुक होने वाली प्रक्रिया का अंग है—

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णमारः॥

भौंरे ने कुसुम का रस प्रिया को पिलाकर ही पिया। मृग ने अपने सींग के स्पर्श मात्र से आंखें मूंदकर विश्वस्त बैठी हुई मृगी को खुजलाया। इस सहज आत्मदानी और विश्वासोत्पादक प्रेम-व्यापार को शृंगार के सहकारी के रूप में स्वीकार किया जाता है तो वह शृंगार केवल इंद्रियों की तुष्टि नहीं, न केवल व्यक्ति की परितुष्टि है। वह समस्त चित्त की रागाकुलता को उभाड़कर संपूर्ण उद्वेलन के साथ व्यक्ति के उद्वेलन को जोड़कर बिछड़े हुए चिदंशों के एकीकरण की प्रक्रिया है।

यही कारण है कि संस्कृत काव्य में राजा के दरबार का ऐश्वर्य-विलास है, पर तपोवन की शांति से, तपोवन के विश्वास से छोटा होकर ही। भारतीय कविता को निरंतर वन ने, वन की सहज और बीहड़ प्रकृति ने, एक ऐसा परिपार्श्व दिया है जिससे उसमें वर्णित प्रेम और उसकी चेष्टाएं महिमान्वित हो गयी हैं।

भारतीय कला में भी जिन लोगों को केवल अलंकरण दीखता है या एक ही आकृति की पुनरावृत्ति दीखती है, अयथार्थता दीखती है, वे यह नहीं देख पाते कि साधारण अनुपात से अलग जाकर आकृतियों की रचना इस उद्देश्य से है कि जिस रूप में वस्तु दृष्ट है, जिस मात्रा में अदृश्य में द्रष्टा है, उसी रूप में और उसी मात्रा में उस वस्तु का शाश्वत महत्त्व है, क्योंकि वह उसका आंतरिक यथार्थ है। अभिप्रायों की पुनरावृत्ति, सौंदर्य-रूढ़ियों की पुनरावृत्ति, विशेषणों की पुनरावृत्ति, ऋतुचक्र की पुनरावृत्ति, इस उद्देश्य से नहीं है कि पाठक या दर्शक ऊबे या उद्विग्न हो, ठीक उल्टा इस उद्देश्य से है कि आवृत्ति के माध्यम से अनेक भंगिमाओं में दृश्यमान भाव की एकता की अनुस्मृति नष्ट न होने पाये, खंड रूप में प्रतिभा-समान सत्ताओं की अखंडता दृष्टि से ओझल न होने पाये। नूतनताओं का अनु-संधान, भारतीय कला-दृष्टि में व्यक्ति-वैशिष्ट्य में नहीं व्यक्ति-व्यापार-वैशिष्ट्य

में है। महाभारत और रामायण के पात्रों को लेकर जाने कितने नाटक लिखे गये हैं, कितनी शिल्प-रचनाएं हुई हैं किंतु वे ही पात्र बार-बार आने पर भी प्रस्तुति में नवीनता है। उन पात्रों की प्रस्तुति अलग-अलग उद्देश्य से उनकी अनुवर्त्तमानता के द्वारा की जाती है। इसीलिए राम-रावण, कृष्ण-कंस तो नहीं बदलते और उसी रूप में प्रस्तुत होते हैं, जिस रूप में वाल्मीकि और व्यास में हुए, किंतु सिद्ध या इतिहासबद्ध पुरुष के रूप में उनका भूमिकाएं भारतीय दृष्टि में बहुत छोटी हैं, भारतीय साहित्य और कलादृष्टि ऐतिहासिक भूमिका का बहुत सीमित उपयोग करती है, वह न उसका प्रत्याख्यान ही करती, न उसके विरोध में कोई अनैतिहासिक या स्वप्निल भूमिका प्रस्तुत करती है; वह केवल इन दोनों प्रकार की खंडित भूमिकाओं से निरपेक्ष रहने वाली, देश और काल का अतिक्रमण करने की संभावना रखने वाली, लीलाव्यापारमय भूमिका की सृष्टि करती है।

राम-कृष्ण की ऐतिहासिक भूमिका छोटी, नित्यलीला के रूप में उसकी भूमिका बड़ी है, बुद्ध की शाक्य मुनि के रूप में भूमिका छोटी, बोधिसत्त्व की शृंखला के रूप में बड़ी है। इसलिए प्राचीन भारतीय साहित्य कला की उपलब्धि का मूल्यांकन करते समय भारतीय मूल्य-बोध का यह पक्ष ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है।

भारतीय वैज्ञानिक उपलब्धि पर विचार करते समय भी यह बात स्पष्ट दीखती है कि इस विज्ञान का उद्देश्य प्रकृति को जीतना नहीं है, बल्कि मनुष्य और प्रकृति को एक परस्पराकांक्षी युग्म के रूप में स्थापित करना और सृष्टि-चक्र को पथच्युत होने से रोकना है। प्राचीन भारतीय जीवन में यह नहीं था कि आखेट वर्जित हो, पशु-वध न होता हो, किंतु यह अवश्य था कि प्रजनन की ऋतुओं में आखेट वर्जित किया जाता था, जिससे सृष्टि का संतुलन बिगड़ने न पाये। पेड़ से लकड़ी तोड़ी जाती थी, लेकिन नयी शाखा छिनगाना पाप समझा जाता था। कृषि विकास के साथ-साथ वृक्षारोपण, पशुसंवर्द्धन को महत्त्व देने के पीछे भी यही प्रयोजन था कि कोई भी विकास अपने-आपमें पूरा नहीं था। बहुत सूक्ष्म पर्यवेक्षण के बाद प्राचीन भारतीयों ने आयुर्वेद और ज्योतिष का ज्ञान विकसित किया और इन दोनों प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्रों में उन्होंने भारतीय दृष्टि खोने नहीं दी। यही नहीं, उन्होंने आयुर्वेद को ज्योतिष से जोड़ा और बाह्य-दृश्य प्रत्यक्ष विद्याओं को अप्रत्यक्ष विद्या—अध्यात्म-विद्या—से जोड़ा, जिससे भले ही किसी खंडित दृष्टि वाले व्यक्ति को अटपटा लगे कि नक्षत्र या ऋतुविशेष में ओषधि उखाड़ने में कौन-सा वैज्ञानिक महत्त्व है, पर उसके पीछे एक अखंड दृष्टि है। पश्चिम के प्रसिद्ध भारतीय तत्त्ववेत्ता हाइनरिख त्सिमर ने 'हिंदू चिकित्सा' नामक ग्रंथ में ठीक ही लिखा है कि हिंदू-चिकित्सा-पद्धति मन और शरीर के भेद को स्वीकार नहीं करती और न केवल शरीर के स्वास्थ्य-लाभ तक सीमित रहती है, वह वस्तुतः

शरीर के माध्यम से जीव के आनंद की पूर्णता प्राप्त कराने के लिए है। इसीलिए आयुर्वेद में शरीर, वृत्ति, हेतु, व्याधि, कर्म, कार्य, काल, कर्त्ता (वैद्य), करण और विधिविनिश्चय—इन दसों का महत्त्व है और यह चिकित्सा-पद्धति इसीलिए आयुर्वेद कही जाती है कि वह जीवन-तत्त्व को परिपूर्णता दिलाने के लिए है, वह मनुष्य के बाहरी शरीर की चिकित्सा नहीं, मनुष्य के अंतवर्ती प्राण की चिकित्सा है। यही कारण है कि आयुर्वेद की भित्ति सांख्य की त्रिगुणात्मक सृष्टि-योजना है। यह योजना ऊपर से देखने पर बहुत अस्पष्ट और बाह्य वस्तु-निरीक्षण में अप्रमाणित जान पड़ती है, परंतु इसका आधार शरीर की स्थूल रचना नहीं, शरीर की सूक्ष्म रचना है। इसलिए आयुर्वेद को अच्छी तरह समझने के लिए योग साधना के अनुसार शरीर में शक्ति-प्रवाह के रूप में स्थित चक्र-शृंखला को समझना आवश्यक होता है और इस शृंखला की कल्पना भी वस्तुतः विराट् विश्व के व्यष्टि शरीर में सूक्ष्म रूप में अवस्थित होने पर आधारित है। इस प्रकार आयुर्वेद का ज्ञान भी आधुनिक अर्थ में विज्ञान भले न माना जाये, पर अनुभव की व्यापकता, गहराई की दृष्टि से यह अधिक पूर्ण विज्ञान सिद्ध हो सकता है यदि इस पद्धति को मानने वाले इसके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में अपने अनुभव के बल पर इसे निरंतर प्रति-संस्कृत करते हुए आगे बढ़ायेंगे।

ज्योतिष विद्या के प्रसंग में यही बात लागू है कि वह केवल काल-गणना या दिग्गणना नहीं है, वह सृष्टि-विद्या भी है और वह खंड काल के परिणामों के माध्यम से अखंड काल की साधना करने वाली विद्या भी है। यह आकस्मिक नहीं है कि भारतीय ज्योतिष में निरयण गणना को सायन गणना की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। निरयण गणना सृष्टि के आरंभ को बिंदु मानकर चलती है और इसीलिए मनुष्य का जन्म निरवधि काल और सावधि काल के मिलन बिंदु पर होता है। एक ओर वह जीवन की अनंत यात्रा के प्रवाह की शृंखला के रूप में आता है, और दूसरी ओर उसकी एक खंडकालिक इयत्ता भी रहती है, जो उसी के प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मों के द्वारा नियंत्रित रहती है। भारतीय ज्योतिर्विद्या का प्रारंभ सौर-मंडल की कल्पना से नहीं, नक्षत्र-मंडल की कल्पना से हुआ। इसी से इस विद्या में प्रारंभ में ही पृथ्वी-केंद्रित विचार-धारा परिपोषित न होकर ब्रह्मांड की एकता देखने वाली विचारधारा परिपोषित हुई। भले ही भारतीय ज्योतिर्विद्या की बहुत-सी उपलब्धियां आधुनिक खगोलविद्या और खगोल भौतिकी के विकास के सामने बच्चों की क्रीड़ा लगे, पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो प्राचीन भारतीय ज्योतिष की व्यापक दृष्टि आज के गणितज्ञों के लिए भी स्पृहा की वस्तु है, क्योंकि पश्चिम का गणितज्ञ या खगोलवेत्ता आज भी मनुष्य-केंद्रित विश्व-दृष्टि से इतना बंधा हुआ है कि वह ब्रह्मांड की लयबद्धता के बारे में शंकालु बना हुआ है।

विज्ञान के जिन क्षेत्रों में प्राचीन भारतीय उपलब्धियां देखनी हैं, उनमें कृषि, भवन-निर्माण, नगर-निर्माण, धातु-विद्या, रसायन, नौका-निर्माण और वस्तु-निर्माण प्रमुख हैं। चावल, गन्ना, कपास की फसलें तथा आम, नीबू, सुपारी, नारियल जैसे फल वाले वृक्षों के विकास में भारत का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वस्तुतः कलम के आरोपण के द्वारा धान और आम का विकास भारत की निजी उपलब्धि है। भारत में कृषि, उद्यान और गोपालन—तीनों अंतःसंबद्ध हैं। शासन तंत्र ने इनको स्वतंत्र विकास करने के अवसर भी दिये थे। हजारों वर्षों तक ग्राम-स्तर पर स्वराज्य भारत में अक्षुण्ण बना रहा। भवन-निर्माण, नगर-निर्माण और धातु-विद्या का विकास अवश्य अवरुद्ध हुआ, उसके भी दो मुख्य कारण थे। एक तो इन विद्याओं के पीछे जो देश-काल की आध्यात्मिक अवधारणा भारतीय मानस में थी वह लुप्त हुई और उसके साथ-साथ रचना की प्रेरक शक्ति लुप्त हो गयी। दूसरे यह कि भौतिक समृद्धि के अवसरों का वितरण विषम हो गया, शासन का केंद्रीकरण बढ़ गया और सत्ता की लोलुपता के कारण प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि में समग्र रूप से जो सौंदर्य-बोध है, वह क्षीण होने लगा। एकांगी आध्यात्मिकता का प्रसार हुआ, अब इसके कारण भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए सामाजिक दायित्व में ह्रास आया और इसीसे धीरे-धीरे शिल्पी, धातुकार, कारीगर बेरोजगार होते गये—और आज इन प्रायोगिक विद्याओं पर एक तो पुस्तकें कम मिलती हैं, जो मिलती भी हैं उन्हें समझना कठिन हो गया है, क्योंकि प्रयोग की परंपरा बीच में बहुत दिनों तक विच्छिन्न हो गयी थी। एलोरा में किस प्रकार एक पहाड़ में ऊपर से नीचे की ओर पत्थर काट-काटकर रचना हुई, किस प्रकार सौ हाथ से ज्यादा लंबी-चौड़ी मोटी शिला केवल एक दीवार पर टिकायी गयी, किन द्रव्यों से दिल्ली के लौह स्तंभ के पालिश का निर्माण हुआ है कि उसकी चमक अब तक बनी हुई है, जिस प्रकार की नगर की रचना और सामाजिक सुविधाओं का विन्यास मोहनजोदड़ो में मिलता है, वह क्रम कैसे टूट गया—इन प्रश्नों का उत्तर आज नहीं मिलता। उत्तर पाने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। मनुष्य का यंत्र-कौशल बहुत विकसित हो चुका है। भारतीय विद्याओं से इस कौशल के भावी विकास में यदि कोई सहायता मिलेगी तो वह यह कि इसके उपयोग में वह एक सर्वभूत हित की दृष्टि दे सकती है। जिस परिवेश-विद्या (इकॉलॉजी) की चर्चा का आजकल फैशन है उसकी मूल स्थापना भारतीय चिंतन के समीप है, यह कि जैव-सृष्टि में कोई चीज नष्ट नहीं होती, वह पुनः नया जैव रूप धारण करती है। इसलिए जीव-विनाश का अविवेकपूर्ण अभियान असंतुलन ला सकता है। उदाहरण के लिए संसार में भोजन की कमी का समाधान आज आदमी समुद्री खाद्य के संग्रह से करना चाहता है। विज्ञान ने यह पता लगा लिया है कि समुद्र की सतह पर छोटे-छोटे ऐसे जीव रहते हैं जो सूर्य के ताप से जीवन ग्रहण करते हैं और पोषक

वस्तुओं के परिणाम के अनुपात में उनकी अल्प मात्रा भी पर्याप्त पोषण दे सकती है। अव यदि इसका संग्रह अविवेकपूर्ण ढंग से किया जाय तो परिणाम यह होगा कि उसके ऊपर जीने वाले समुद्री जीव समाप्त हो जाएंगे और उन जीवों के समाप्त होने से समुद्र की शुद्धता भी समाप्त हो जायेगी, जिससे व्यापक रूप से जीवन के लिए आवश्यक प्राणस्रोत में कमी आ जायेगी। इसी प्रकार समस्त यांत्रिक विकास के संबंध में एक प्रश्न-चिह्न खड़ा हो गया है। मनुष्य की भूख अगर शांत नहीं होती तो केवल मनुष्य ही नहीं पूरा भूगोल प्रभावित हो सकता है। इसलिए यदि प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि आज जो प्रासंगिकता रखती है, वह है सर्वभूतात्मभाव, समस्त जड़-चेतन सत्ताओं में एक जीवन-धारा, एक चैतन्य प्रवाह को स्पंदित देखना (समस्त क्षणों में एक संतान देखना), समस्त बुद्‌बुदों में एक अव्यक्त महासागर देखना। आदमी जब इस रूप में देखता है तो एक मायने में तो छोटा हो जाता है क्योंकि उसका अहंकार टूट जाता है, पर दूसरे मायने में वह बड़ा हो जाता है क्योंकि सबका हित देखने वाला स्वयं 'सब' बन जाता है।

इस व्यापक संदर्भ में संस्कृत वाङ्मय की शिक्षा का स्वरूप हम जब निर्धारित करने बैठते हैं तो हमारे सामने इस शिक्षा के चार प्रयोजन उभरते हैं :

१. पहला तो यह कि संस्कृत शिक्षा से भाषा का संस्कार समृद्ध होता है, उच्चारण का सौष्ठव आता है, शब्द-निर्माण की क्षमता आती है, वाक्य-विन्यास की स्पष्टता और तर्कसंगति का अभ्यास होता है, पारंपरिक संस्कृत व्याकरण की शिक्षा से सर्जनात्मक भाषा-प्रक्रिया के साथ सहज रूप में जुड़ाव होता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा और पारंपरिक व्याकरण की शिक्षा केवल संस्कृत के ज्ञान के लिए ही उपयोगी नहीं, वह समस्त भारतीय भाषाओं की शब्दनिर्माण प्रक्रिया और विचाराभिव्यक्ति-प्रक्रिया को समृद्ध करने में भी उपयोगी है। संस्कृत के वजन पर भारतीय भाषाओं में नये शब्द ढल रहे हैं, इसलिए संस्कृत भाषा और व्याकरण भाषामात्र की स्पष्टता और सर्जनशीलता का आधार निर्माण करने में सहायक बनें, इस दृष्टि से चाहे पुराने ढंग की पाठशाला हो या नये ढंग का स्कूल, दोनों जगह इस उद्देश्य को सामने रखकर पाठ्यक्रम बनाये जाने चाहिए और अध्यापन उच्चारण की शुद्धता, स्फुटता और संहतता पर बल देना चाहिए, दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की रचनाओं (समस्त, असमस्त, कृदंत और तद्धितांत) की सार्थकता की अलग-अलग पहचान करनी चाहिए, जिससे पता चले कि कहां समास उपयुक्त है, कहां नहीं, कहां तद्धित प्रत्यय लगाकर पूरे वाक्य का काम लेना उपयुक्त है, कहां अलग-अलग पद रखना, कहां कृदंत रखना उपयुक्त है, कहां तिङंत। तभी भाषा की बारीकी का ज्ञान होगा। व्याकरण का तादात्म्य धातु रूप और नामरूप रहने से न होने पाये इसके लिए आवश्यक है कि आधुनिक ढंग की पढ़ाई

में नामरूपावली और धातुरूपावली हटाकर रूप घटाने की पाणिनीय प्रक्रिया संनिविष्ट की जाए।

२. दूसरा प्रयोजन यह है कि बौद्धिक प्रखरता और सत्यानुसंधित्सा की प्रवृत्ति पैदा हो। संस्कृत वाङ्‌मय में तर्कपरिशुद्धता की बड़ी समृद्ध परंपरा है, इसी परंपरा का चरम उत्कर्ष नव्यन्याय की परिच्छिन्न भाषा में हुआ है, जो ऊपर से बड़े घटाटोप वाली भले दिखे, पर भीतर से अर्थ को स्पष्ट से स्पष्टतर करने की सोद्देश्यता लाने के कारण वह बहुत परिशुद्ध है। इस परिशुद्धता के संस्कार के लिए आवश्यक है कि पदकृत्य की प्रक्रिया, उदाहरण-प्रत्युदाहरण द्वारा लक्षण-समन्वय की प्रक्रिया, लक्षण परिष्कार की प्रक्रिया और खंडन-मंडन की प्रक्रिया का अभ्यास केवल प्राचीन संदर्भों को लेकर ही नहीं, आधुनिक संदर्भों को लेकर कराया जाए। इन सभीके लिए आधुनिक संदर्भ से जुड़े हुए पाठ्य ग्रंथ तैयार करने होंगे। इसके साथ ही जिज्ञासा को जाग्रत् करने के लिए उपनिषदों की प्रश्नोत्तर शैली का उपपादन प्रारंभ से कराना चाहिए और यह समझाने की कोशिश करनी चाहिए कि बड़े सत्य को प्राप्त करने के लिए छोटे सत्यों की सीढ़ी चढ़नी आवश्यक होती है, एक प्रकार से कोई भी सत्य हेय नहीं होता, कोई भी सिद्धांत छोटा नहीं होता, क्योंकि परमार्थ सत्य और अखंड सत्य को समझने में सभी सहायक होते हैं, वे परमार्थ सत्य के विरोधी नहीं होते, वे एक अंशी के अंश होते हैं। इसलिए संस्कृत वाङ्‌मय में दूसरे के मत के प्रति आदरभाव की परंपरा को जाग्रत् रखने के लिए समस्त सिद्धांतों में समान रूप से प्रतिष्ठित मूल्यों से संवद्ध वचनों का आकलन समानांतर रूप से प्रस्तुत करना चाहिए। उदाहरण के लिए महाभारत, बुद्धवाणी, महावीर-वाणी के समानांतर मूल्यपरक वचनों का विषयशः संकलन हो, जिससे संस्कृत वाङ्‌मय के माध्यम से विविध भारतीय धाराओं की एकोन्मुखता और एकान्विति का दृढ़ संस्कार मन पर जमे। सत्य की खोज की दृष्टि से यह समझना चाहिए कि एक वैदिक आख्यान किस प्रकार पौराणिक आख्यान बनता है, एक पुराना प्रतीक किस प्रकार नये-नये संदर्भों से जुड़कर नये प्रतीयमान अर्थों की उद्‌भावना करता है, जैसे चक्र को ही लें, पहले सौर प्रतीक था, फिर काल के आवर्त्तन का, फिर ऋतु के प्रवर्त्तन का, फिर धर्म का, फिर नैतिक अनुशासन का प्रतीक बनता जाता है। इस प्रकार की जोड़ने वाली चिंतन-पद्धति के अनुसार चयन किये जायेंगे तो उससे एक ओर विनय का संस्कार होगा कि अभी जानने को न जाने कितना पड़ा है और अपना ज्ञान कितना छोटा है; दूसरी ओर समस्त ज्ञानयात्रा की एकसूत्रता का आभास मन में इस बड़प्पन का अनुभव करायेगा कि हम एक ज्ञानराशि के साक्षात्कार में महान् जाति के सदस्य के रूप में जुड़े हुए हैं।

३. तीसरा प्रयोजन है जीवन के साकल्य की प्रतीति कराना, जिसमें बचपन

से लेकर वृद्धावस्था तक प्रत्येक अवस्था की अलग-अलग सार्थकता का बोध हो, कोई अवस्था दूसरी से हेय न दिखलायी जाय, प्रत्येक अवस्था अपने विशिष्ट दायित्व से जुड़ी रहकर भी दूसरी अवस्थाओं की अपेक्षा रखने वाली हैं, ऐसा संस्कृत काव्यों-नाटकों-पुराणकथाओं से झलकाया जाय, जिससे पीढ़ियों के बीच स्नेह की भित्ति दृढ़ हो। साथ ही जीवन की सफलता केवल मनुष्य या उसके परिवार या उसके मानवीय समाज के साथ समंजस होने तक ही चरितार्थ नहीं होती, जीवन की सफलता चरितार्थ होती है जड़-चेतन, चर-अचर संपूर्ण परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित करके। संस्कृत वाङ्मय की यह शिक्षा आज के परिवेश-चिंतित समाज के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। पशु-पक्षी, वनस्पति, नदी, पर्वत, ऋतुचक्र, हवा, पानी इन सबके साथ मनुष्य का किस प्रकार निकट का साहचर्य-संबंध है, यह बात संस्कृत काव्य के चुने हुए उदाहरणों मे समझायी जा सकती है, चुनी हुई पौराणिक और जातक कथाओं से समझायी जा सकती है तथा आयुर्वेद, धर्मशास्त्र और वैदिक वाङ्मय में निहित कुछ उपदेशों से समझायी जा सकती है। सृष्टि में कुछ भी निष्प्रयोजन या उपेक्षणीय नहीं है, कुछ भी मनुष्य-असंवद्ध नहीं है, यह सिद्धांत जब तक सरस और रागवर्धक उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित नहीं किया जाएगा तब तक वह मन में घर नहीं करेगा। इसके लिए उपयुक्त उदाहरणों का चयन करना होगा और उनकी मनोरम व्याख्या भी प्रस्तुत करनी होगी तभी भारतीय चिंतन में तप और त्याग की मूलभूत पीठिका समझ में आ सकेगी। तप होता ही है जड़ीभूत चित्त को पिघलाने के लिए, उसको प्रवहमान और गतिशील बनाने के लिए और त्याग तो ममता और अहंता की क्षुद्रता को ही छांटने के लिए उद्दिष्ट होता है, वह मम और अहं का विस्तार करता जाता है। क्षुद्रस्वार्थ के लिए किये गये तप और त्याग दोनों आसुरी माने गये हैं। जीवन में भोगपूर्वक त्याग है, रागपूर्वक विराग है, स्नेहपूर्वक तप है, यह बात संस्कृत वाङ्मय से किस तरह सिखायी जाय, इसके लिए सुचिंतित उपाय करने होंगे, तभी इस प्रयोजन की चरितार्थता होगी।

४. चौथा प्रयोजन है व्यापक और गहरे स्तर पर आत्मीयता का विस्तार। भारत ने संस्कृत वाङ्मय के द्वारा सांस्कृतिक उपनिवेश नहीं बनाये (यद्यपि इसी बात का गौरवगीत गाते हुए हम अहंकार के शिकार हुए और बाद में अपने अहंकार के कारण अपने सांस्कृतिक साझेदार देशों की घृणा के भी शिकार हुए), भारत ने चीनी, जापानी, कोरियाई, हिंदेसियाई, कंबोजी और चंपा संस्कृतियों को उनके स्वरूपों को पहचानने के लिए एक नया मुकुर दिया, उनकी इयत्ता के पुंडरीक को विकसित होने के लिए एक नये सूर्य का प्रकाश दिया। सबने अपने-अपने ढंग से मनुष्य और जगत् के बीच आत्मीयता की खोज की, हर खोज अपने परिवेश और काल में सार्थक सिद्ध हुई, संस्कृत वाङ्मय हर खोज को सार्थक

मानता है, इसीलिए उसमें ऋषियों, अवतारों, बोधिसत्त्वों, अर्हतों, सिद्धों, संतों का इतना आदर है, देवता से कहीं अधिक मंत्रकृत् ऋषियों का है, करुणा से अधिक आदर करुणा के लिए अर्पित व्यक्तित्वों का है, कैवल्य से अधिक आदर केवलियों का है, सिद्धि से अधिक आदर सिद्धों का और सत् से अधिक आदर संतों का है। संस्कृत वाङ्मय की चिंतनधारा प्रक्रिया को, साध्यावस्था को और खोज की निरंतरता को ही परम पुरुषार्थ मानती है, परंतु अन्य पुरुषार्थों को निरर्थक या अनुपयोगी नहीं मानती, वह उन्हें आवश्यक सोपान के रूप में स्वीकार करती है। इसलिए व्यक्ति के स्तर के रिश्ते ही जमीन बनते हैं, बड़े रिश्तों के, जो मातृदेव और पितृदेव नहीं होता, वह अतिथिदेव भी नहीं हो सकता। मन्मथ से पीड़ित होकर ही साक्षात् मन्मथ मन्मथ के विरह की पीड़ा का अनुभव कर सकता है। नश्वर जीवन-लीला में ही नित्य लीला अनुरंजित होकर मोहक बनती है। इसलिए महाभारत ने व्याध को धर्मशिक्षक के रूप में देखा या बौद्ध वाङ्मय ने रूपाजीवा को 'सच्चकिरिया' की साधिका के रूप में देखा, छोटा धर्म भी बड़े भाव से अनुष्ठित होता है तो बड़ा धर्म बन जाता है, यह सापेक्षवाद आज के संदर्भ में बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। जिस उदार आत्मीयता की बात संस्कृत वाङ्मय में की गयी है उसकी पहचान कराने की आवश्यकता है। महाभारत में युधिष्ठिर स्वर्गारोहण में अपने भाइयों के प्रति निस्संग हो जाते हैं पर कुत्ते के प्रति नहीं, पर वही युधिष्ठिर नरक में पड़े हुए अपने भाइयों के दुःख से कातर होकर पुनः उन्हीं के साथ नरक का वरण करते हैं, यह अंतर्विरोध नहीं, करुणा के सही विनियोग का ज्ञान प्रमाणित करता है। प्रादेशिक, जातीय, मजहबी या सांप्रदायिक संकरे दायरों से मुक्ति दिलाने में संस्कृत वाङ्मय का सही-सही उपयोग अभी नहीं किया जा रहा है, इसीलिए संस्कृत एक वर्ग या एक धर्म या एक जाति से एकात्म मान ली गयी है। आज इस बात की आवश्यकता है कि संस्कृत के विराट् स्वरूप का ज्ञान तो कराया ही जाए, उसकी सर्वभूतमैत्री और उसकी असीम करुणा का भी बोध कराया जाय।

इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिए पारंपरिक संस्कृत शिक्षा में दृष्टि-परिवर्तन करना होगा और आधुनिक संस्कृत शिक्षा की प्रक्रिया में परिवर्तन करना होगा। पारंपरिक शिक्षा केवल रक्षा तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती है, जब कि रक्षा के भूत से आतंकित रहने के कारण उसकी दृष्टि खुली नहीं रहने पाती और वह आधुनिक जगत् की अपेक्षाओं की उपेक्षा कर जाती है। वह अपनी सनातन संदर्भशीलता की बात भी भूल जाती है, वह अपनी शक्ति भी नहीं पहचान पाती। आवश्यकता है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से संपर्क का भय समाप्त हो और पारंपरिक शिक्षा अपनी बौद्धिक चिंतनधारा को आधुनिक संदर्भ से भी जोड़े और अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को वैज्ञानिक परीक्षण के लिए, अपनी दार्शनिक

उपलब्धियों को दार्शनिक तत्त्वमीमांसा के लिए तथा अपनी साहित्यिक उपलब्धियों को मानवीय साहित्य की कसौटी के लिए प्रस्तुत करे। जो मूल्यवान् होगा, वही रेखांकित रह जाएगा और तब वह भारतीय या प्राचीन ज्ञान न रहकर विश्व का सनातन ज्ञानप्रवाह बन जाएगा। इस दृष्टि-परिवर्तन से संस्कृत पाठशालाओं में पठन-पाठन की परंपरा वही रहते हुए भी अपने-आप नयी सोद्देश्यता के कारण नया जीवन आ आएगा और पंडितों में अधिक खुलापन और त्यागशीलता। वे समाज से अलग-थलग नहीं रहेंगे और साथ ही वे समाज के सामने एक अद्वितीय बौद्धिक ईमानदारी का प्रतिमान प्रस्तुत करके पाणिनि, पतंजलि, सुश्रुत, नागार्जुन, वात्स्यायन, आर्यभट, वराहमिहिर, शंकराचार्य, धर्मकीर्ति, वाचस्पति, उदयन जैसे तेजस्वी व्यक्तियों की नक्षत्रमाला का विस्तार करेंगे।

आधुनिक ढंग की संस्कृत शिक्षा की प्रक्रिया में परिवर्तन इस प्रकार करना होगा कि वहां व्याकरण ह्विटनी की पद्धति पर न पढ़ाकर सरलीकृत पाणिनीय पद्धति पर पढ़ाना होगा, संस्कृत संग्रहों में वाङ्मय की समग्रता का ध्यान रखना होगा और प्रत्येक आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विषय में संस्कृत वाङ्मय में निहित ज्ञान-विज्ञान को जोड़कर उसे अधिक व्यापक और महत् प्रयोजन से प्रेरित बनाना होगा (वह विषय चिकित्सा हो, रसायन हो, भौतिकी हो, गणित हो, समाजशास्त्र हो, साहित्य हो, या दर्शन या इतिहास)। हिंदी या अन्य भारतीय भाषा और उसके साहित्य को पढ़ाते समय भी संस्कृत भाषा और साहित्य के द्वारा इन भाषाओं और इनके साहित्यों में एक प्रकार की शब्द-निर्माण-प्रक्रिया और एक प्रकार की रागात्मक प्रक्रिया प्रवाहशील रखी गयी है, यह बात समझानी आवश्यक है अन्यथा अनेकता के ही दर्शन होकर रह जाएंगे, अनेकता के बीच एकता तिरोहित हो जाएगी और तब देश तिरोहित हो जाएगा, क्योंकि देश एक है, अखंड है, जाज्वल्यमान यज्ञवेदी है, चढ़ा हुआ धनुष है, कमठ-पृष्ठ की तितिक्षा है, माधुर्य की लीला-भूमि है, भूत-सेवा की पावन भूमि है, तीर्थ है, तो यह सब संस्कृत वाङ्मय के द्वारा जगाये मूल्यबोध और भावबोध के कारण। वह भारत अन्यतम इसलिए नहीं कि दूसरे देशों से विच्छिन्न है, बल्कि इसलिए कि वह दूसरे देशों की अपेक्षा अपने ही तरह इतर के लिए चिंतित है। संस्कृत वाङ्मय की विश्वचिंता और सनातन चिंता आज के भारतीय शिक्षित वर्ग को नया दायित्व-बोध और नया विश्वास दे सकती है, पर इसके लिए शिक्षा के प्रत्येक स्तर में (प्रारंभिक से लेकर उच्च शिक्षा तक) संस्कृत को उचित स्थान देना होगा, दूसरे विषयों की शिक्षा में संस्कृत वाङ्मय की उपलब्धि को उचित अनुपात में स्थान देना होगा तथा पारंपरिक शिक्षा में दृष्टि-परिवर्तन करना होगा, जिससे वह अपनी विशिष्टता को सामान्य समुदाय की अपेक्षा से जोड़कर

अधिक जीवंत रूप में प्रमाणित कर सके, इसके लिए पारंपरिक शिक्षा में आधुनिक दृष्टि से किये गए प्राचीन ज्ञान के ऐसे मूल्यांकनों को भी स्थान देना होगा, जिनमें (कुमारस्वामी, त्सिमर, ब्लूमफ़ील्ड, कार्ल पीटर, ब्रफ़, हाइमान जैसे विद्वानों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में किये गये मूल्यांकनों में विशेष रूप से) आधुनिक संदर्भ से जोड़कर उस ज्ञान की सनातनता प्रमाणित हुई है, इनको सन्निविष्ट करने से अपने दायित्व की एक सार्थक पहचान होगी। उस पहचान के अभाव में पारंपरिक संस्कृत शिक्षा अजायबघर की वस्तु बनी हुई है।

परंतु ये सब बातें मेरे अकेले सोचने की नहीं, संस्कृत में रुचि लेनेवाले मात्र के भी सोचने की नहीं, ये बातें समस्त प्रबुद्ध वर्ग के सोचने की हैं, क्योंकि इन बातों से संस्कृत पढ़ने-पढ़ाने वाले समुदाय की ही आयति नहीं जुड़ी हुई है, इन बातों से भारतीय जनता की और समस्त मानवीय जाति की आयति जुड़ी हुई है। संस्कृत पढ़ने-पढ़ाने वालों पर भार इतना ही है कि अपने पढ़ने-पढ़ाने में इन बातों पर ध्यान दें और अपने विनम्र प्रयत्न द्वारा आस्था की बाती उकसाएं, अपने आलोक की परिधि बढ़ाएं और अपने अनदेखे अंधकार को भर आंखें देखें, वह अंधकार बहुत बड़ी चुनौती है संस्कृत की सावित्री चिंतनधारा के लिए।

(सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय के रजत-जयंती उत्सव में दिया गया उद्घाटन भाषण)

जन-जन के त्यौहार में श्रीकृष्ण

सारे हिंदू त्यौहारों में होली एक अपने ढंग का औला-मौला त्यौहार है। चिता की राख उड़ाने से बचपन शुरू होता है, कीच-कांदों के बीच जवान होता है, और बुढ़ाते-बुढ़ाते रंगों से सराबोर हो जाता है। यह घोर अनमनेपन से उन्माद तक और उन्माद से गहरी सामाजिक समता के सरस विवेक तक की यात्रा है। होली का इतिहास वसंत और वसंत के मीत मदन की पूजा से प्रारंभ होता है, और मध्ययुग में इसकी परिणति तब होती है, जब मदन को भस्म करने वाले शिव भी होली खेलने के लिए विवश हो जाते हैं—

शिवशंकर खेलैं फाग गौरा संग लिये हो

और मदन अनंग बनकर जागता भी है तो वह मदन मोहन की मोहकता के आगे फीका पड़ जाता है और होली के उत्सव का उत्साह इसलिए दूना हो जाता है कि

सदा अनंद रहै एहि द्वारे मोहन खेलैं फाग

मोहन इस दरवाजे पर फाग खेलने आए, यहां तो सदा आनंद रहेगा ही, इतना पागलपन, इतना गंवारपन, ऐसी बेलगाम भाषा कि

फागुन भर बाबा देवर लागैं,

फागुन में बूढ़े से बूढ़ा बाबा भी देवर लगने लगे, ऐसी उच्छल अश्लीलता और इतना गहरा लोकमंगल भाव, समरसता का भाव एक ही पर्व में कुछ बड़ा असंभव योग है। पर यह सब एक दिन में नहीं हुआ, हिंदू जीवन की गतिशीलता ने होली को इतनी रंगतें सहस्राब्दियों में दी, कुछ रंग कालिदास के युग के हैं, कुछ अजंता के, कुछ मध्ययुग के, कुछ तो भारतेंदु के पुनर्जागरण युग के, सब मिल-जुलकर होली एक लोकचेतना के उन्मीलन का पर्व बन गया है। शायद इसीलिए तो नहीं प्रेमाभक्ति के साक्षात् स्वरूप चैतन्य महाप्रभु ने अपने अवतरण के लिए इसी पर्व को चुना और अपने चैतन्य को तपाकर, पिघलाकर विश्वमय विश्वमोहन

के प्रेम में घोल दिया। प्रेम चैतन्यमय हो जाय, चैतन्य प्रेममय हो जाय, ऐसा संदेश दिया और उन्होंने ही वृंदावन की नयी पहचान दी।

आइये, अब होली की ऐतिहासिक यात्रा की एक झांकी ली जाय। वात्स्यायन के समय में अर्थात् ईसवी सन् के आसपास फागुन-चैत दोनों महीने मदन-महोत्सव के रूप में मनाये जाते थे। वसंत में वर्ष का अंत और नववर्षारंभ पड़ता था। प्राचीन भारतीय दृष्टि संवत्सर को यज्ञ मानती थी, मानवजीवन को संवत्सर मानती थी, क्योंकि जैसे एक संवत्सर बूढ़ा होकर मरता है और पुनर्जायमान होकर नया होता है, वैसे ही यज्ञ भी पुनः सृष्टि है, विसृष्टि है, आनंद कुमार-स्वामी ने कहा है कि यज्ञ का उद्देश्य ही है मनुष्य में विधाता की भावना करना और उसको पूरी जीवसृष्टि में इस प्रकार संपृक्त करना कि यह सृष्टि अब मेरी है, समूची की समूची मेरी है। इसीलिए धीरे-धीरे पूरा जीवन ही यज्ञ बना। वसंत इस यज्ञ में पुरुषसूक्त में आज्य का काम करता है, घी का काम करता है, बिना इस घी के ग्रीष्म का सूखा ईंधन धधक नहीं सकता और बिना आग धधके शरत् की हवि दी जाय तो देते-देते सुरभित लपट नहीं ऊपर उठ सकती। वसंत आसीदाज्यं ग्रीष्म इध्मं शरद् हविः।

भारतीय जीवन दृष्टि काम का महत्त्व प्रारंभ से ही स्वीकार करती आयी है, काम ही प्रथम बीज है, काम ही सत् को असत् से जोड़ता है, सच्चिद् को आनंद से जोड़ता है, काम से ही सृष्टि प्रवर्त्तित होती है और इस काम की आहुति से ही सृष्टि पूर्णता को प्राप्त होती है। सृष्टि के सौंदर्य में मन आकृष्ट न हुआ तो जीवन व्यर्थ है, वह सौंदर्य यहां-वहां सब ओर है। वह सौंदर्य अपर्ण होकर, उन्मत्त होकर नयी कोपलों के लिए पुकार लगाता है, वह पुरानेपन की राख मलकर अवधूत बनता है, पुरानेपन की चिता के पास धूनी रमाता है और मन के भीतर सोये कलुष को वाणी के द्वार से बाहर निकालता है, कलुष के कीच-कांदों से खेलता है और जीवन की निरंतरता में अवगाहन करके जो निकलता है तो आम्रमंजरी की महक से मह-मह करता हुआ निकलता है, टेसू-कचनार में रंगकर निकलता है, अबीर और गुलाल में गुलाबी बनकर निकलता है।

श्रीहर्ष की रत्नावली में रंगीन होली का सबसे पहला चित्र मिलता है, सारी कौशांबी पर सोने का पानी चढ़ गया लगता है। चारों ओर केसर मिश्रित अबीर बगरायी गयी है, कामिनियां सोने के गहने पहने नहीं सिरपर अशोक के लाल-लाल फूल खोंसे निकली हैं, ऐसा लगता है कि कुबेर का खजाना जीत लिया है और गली-गली सोना ऐसा पट गया है रूप का, रूप के पुष्पमय आभरण का और केसर मिली अबीर की वर्षा का कि बस लोग सुनहले वसंत में डूब गए हैं—

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुंकुमक्षोदगौरैः
हेमालंकारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः किंकिरातैः।

एषा वेषाभिलक्ष्यस्वभवनविजिताशेषवित्तेशकोषा
कौशांभीशातकुम्भद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति ।।

यही नहीं नगर में फौव्वारों में रंग भर दिया जाता, उसीमें पिचकारी भर-भरकर ऐसा रंग खेला जाता है कि सारा चौक का चौक कीचड़मय हो जाता है और फिर उसी कीचड़ में उद्दाम प्रमदाएं जब गा-गाकर नाचती हैं तो उनके गालों पर फेंके जाते गुलाल के झरने से वह कर्दममय भूमि फिर कड़ी हो जाती है और साथ ही बिल्कुल सिंदूरी हो जाती है।

धारायंत्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सांद्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिंदूररागारुणैः
सिंदूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरःकुट्टिमम् ।।

दोपहर के बाद घर के अन्दर कुलयुवतियों का और बाहर पुरनारियों का उन्मत्त नृत्य शुरू हो जाता था, न केशों में गुंथी मालती की माला की सुधि रहती थी, न हार की, नूपुर अलग पैरों पड़कर बिलखते रहते थे।

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितान्याकुलः केशपाशः
क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रंदतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कंपानुबंधादनवरतमुरो हन्ति हारोयमस्याः
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभारविनमन् मध्यभंगानपेक्षम् ।।

अन्य वर्णनों से यह सूचना मिलती है कि तीन दिन का मदनोत्सव होता था, जिसमें उद्यानयात्रा होती थी, फूल चुने जाते थे, मालाएं गूंथी जाती थीं, अशोक के वृक्ष के नीचे मिट्टी का कलश रखकर उसमें सफेद चावल भरे जाते थे और उसे श्वेत वस्त्र से ढंक दिया जाता था और उसके ऊपर श्वेत चंदन छिड़का जाता था, उस कलश के ऊपर रति-कामदेव की प्रतिमा रखी जाती थी। प्रेम के अधिष्ठाता दंपति की पूजा गंधधूप से तो की ही जाती थी, असली पूजा नृत्यगीत से होती थी, उत्सव के अंतिम दिन पूजा के बाद अश्लील गीत गाये जाते थे और उत्सव एकदम उद्दाम रूप धारण कर लेता था। वस्तुतः वसंतोत्सव सुवसंतक से प्रारंभ होता है, आम में पहली मंजरी आते ही, युवतियां उसे गले में सूत में लटकाकर सारा गांव जगमग कर देती थीं। वस्तुतः उस समय प्रकृति बहुत उदार थी और मानव प्रकृति की उदारता से लाभ लेने में संकोच नहीं करता था, कानों में कर्णिकार, केशों में अशोक और गले में मल्लिका की माला, कुसुम और टेसू में रंगे महीन और हल्के वस्त्र यही सौंदर्य का परिधान था। अब तो मनुष्य दाता और विजेता हो गया है, अब भी फूल तोड़ता है, पर उसे एकाबाना में कांटों और सूखी टहनियों में खोंसकर किसी आले पर रख देता है और वैभव का चीत्कार करने वाले आभूषण शरीर पर लाद लेता है। प्रकृति भी कुछ अनखा गयी है, न टेसू दिखते हैं, न मल्लिका, और अशोक तो

अब फूल वाला अशोक रहा ही नहीं, वह तो कटावदार पत्तों वाला हरा-हरा अशोक रह गया है, राजनेताओं के आगमन में वंदनवार की सामग्री। सूरदास तक आते-आते वसंतोत्सव कन्हैयामय हो जाता है, जो मदन पुजता था, वह अब पुजारी हो गया। वसंत और उसके संगी-साथी भी मदन मोहन को रिझाने चल पड़े, पलाश में फूल आये, उसने अंग में होली जला ली, झिल्ली ने झांझ संभाली, झरने ने डफ और भौंरे ने भेरी, कपोत, केकी और चक्रवाक एक दूसरे को गारी देने पर उतर आये, कोयल एकदम निर्लज्ज होकर अपना प्यार जतलाने लगी, कामदेव ने अपने हाथ से डाल-डाल फूलों में रंग डाले, पूरा वृंदावन पुकार उठा, आओ प्यारे होली खेलो।

देखत बन ब्रजनाथ आजु, अति उपजत है अनुराग।
मानहुँ पवन वसंत मिले दोउ खेलत फूले फाग॥
झाँझ झिली निर्झर निसान डफ भेरि भँवर गुंजार।
मानहुँ मदनमंडली रचि पुरबीथिन विपिन बिहार॥
उडुगन मध्य पलास मंजरी उदित अगिनि की नाईं।
अपने अपने मेरिन मानौं होरी हरखि लगाई॥
केकी कोक कपोत और खग करत कुलाहल भारी।
मानौ लैलै नाउँ परसपर देत दिवावत गारी॥
कुंज-कुंज प्रति कोकिल कूजित अतिरस विमल बढ़ी।
मनु कुलवधू निलज भईं गृह-गृह गावति अटनि चढ़ी॥
बहुविध सुमन अनेक रंगछवि उत्तम मोति धरे।
मनु रतिनाथ हाथ सों सबहीं लै लै रंग भरे॥
और कहाँ लगि कहौं रूपनिधि वृंदाविपिन विराज।
सूरदास प्रभु सब सुख क्रीड़त स्याम तुम्हारै राज॥

भक्ति के युग में सकल सौंदर्य अपना प्रयोजन पा जाता है, समस्त कामनाएं अपनी पूर्ति पा जाती हैं, समस्त ऐषणाएँ अपना ऐषणीय पा जाती हैं, कन्हैया के संग होली खेलने का भाव गंवारपन को भी स्पृहणीय बना देता है। शीलवान् से शीलवान् को ललक होती है, हम भी ऐसे ही निपट निलज हो कन्हैया के रंग में रंग जायें। होरी के साथ भावों की बरजोरी का भाव आया, बरजोरी कन्हैया की हमारे साथ, आंखों में गुलाल झोंके चले जा रहे हैं, यह नहीं कि भर आंख देखने तो दें :

हम तुमसौं विनती करैं जनि आँखिन भरौ गुलाल।
सह्यौ परत हमपै नहिं तेरौ निपट अनोखौ ख्याल॥
दरसन में अंतर परै हो करहु अबीर अबीर।
तुमहि कहौ कैसे जियैं जहं मीन न पावै नीर॥

और बरजोरी कन्हैया के साथ कि अकेले पड़ गए तो उन्हें घेर लिया, पीतांबर छीना, मुरली छीनी, आंखों में काजल आँजा, केश गूंथे, मांग काढ़ी, सिंदूर भरा और राधाकुंअरी के पैरों पर पड़ने के लिए मजबूर किया। बहुत अकुलाये तो बांहों में कसकर भर लिया।

सीला नामक ग्वालि अचानक गहे कन्हाई।
सखिनि बुलावति टेरि दौरि आवहु री माई।।
इक पट लीन्ही छोरि मुरलिया लई छिड़ाई।
लोचन काजर आँजि भाँति सौं गारी गाई।।
जबहिं स्याम अकुलात गहति गाढ़े उर लाई।
चंद्रावलि सौं कह्यौ गूँथि कच सौंह दिवाई।।
हा हा करियँ लाल कुँवरि के पाइ छुवाई।
यह सुख देखत नैंन सूर जन बलि बलि जाई।

कन्हैया भी क्या करें, हाथ जोड़ते हैं, सब आभूषण ले लो, मुरली ले लो, बस मेरा पीतांबर दे दो, काली-कलूटी देह का उपरना दे दो, पर गोपियां तो उन्हें नंगा करने पर तुली हुई हैं, लज्जा का आवरण उन्होंने हरा, ऐश्वर्य का आवरण हम उनका हरें।

तब तुम अंबर हरे हमारे कीन्हें कौन उपाई।
अब तौ दाँउ पर्‌यौ धरि पाए छाड़हिं तुमहिं नँगाइ।।

कन्हैया की यह रंगभरी होली समूचे जनजीवन में विशेषतः उत्तर भारत के जन-जीवन में ऐसी भिन जाती है कि गांव का आदमी दूर देशांतर कहीं जाय, होली में गांव आना चाहता है और अपनी जमीन के स्नेह में सनना चाहता है, अपने परिवेश के सौंदर्य की पिचकारियों की मार झेलना चाहता है और विश्व में रीझने-रिझाने वाली कन्हैया की भूमिका में अपने को उतारना चाहता है। यह होली का त्यौहार इतनी खुशी देता है कि इसका उतार भी उतना ही गहरा दर्द भी देता है। वसंत की ढलान है चैत, दर्द-भरे चैते की ऋतु जब होली हिये में जलने लगती है स्मृति बनकर नीम के पत्ते झरने लगते हैं और कोयल अब दिन दुपहर नहीं बोलती, आधी रात बोली मारने आती है—

और दिन बोलै कोइली दिन दुपहरिया हो
आजु बोलै अधिरतिया हो रामा।

आदमी बेचैन हो उठता है कि कहीं उसकी गांठ का हीरा खो गया है, कहां खोया नहीं जानता, कहीं उसके अभिमान की झुलनी हिरा गयी है, कन्हैया बड़े बेदरदी हैं, फगुवा क्या दे गए, चेटक कर गए, सबके लिए सोचने की चिंता बड़ी व्याकुल करने वाली चिंता होती है। एक बार यह चिंता हो जाती है तो फिर मन अपना नहीं रह जाता। तब आदमी को कभी उस अमराई की याद आती है, जहां कच्ची कैरियों

के लिए जोरदार छोकरियों ने छीना-झपटी की थी और रुला दिया था, आज वह अमराई भट्ठे की भेंट चढ़ गयी है। कभी गांव की ग्वालिन याद आती है जो गाल-मुंह सब पर दही मल देती थी। उसका लड़का जाता रहा, उसने फिर होली नहीं खेली। स्मृतियों की पर्तें उधरती चली जाती है और चुभन और तीखी होती जाती है कि शिष्टाचार का यह नकाब कितना भयावह है, नागरिकता की यह सूखी फिसफिस कितनी हेय है, सभ्यता का यह दंभ कितना छूंछा है और आत्मकेंद्रित नैतिकता कितनी बड़ी चोरी है, कितना बड़ा दुराव है, अपनी उस श्यामल पर पारदर्शी, वहावदार, तोड़दार पर एक कूल को दूसरे कूल से, स्रोत को सागर से जोड़ने वाली सहज जनजीवन की धारा से।

मेरे लिए होली ऐसे ही चैते का दर्द है और होली का सांस्कृतिक संदर्भ एक स्मृति-विह्वलता है कि आज की होली भी एक खोखला नारा बनकर रह गयी है, उसका रस, उसका कर्दम-आलोड़न, उसका विराट् वैराग्य, उसकी नयन से हृदय तक रंगनेवाली पिचकारी सब आकाशवाणी को भेंट चढ़ा दिये गये हैं।

मेरे जैसे जिस हृतभाग्य ने स्व० बालमुकुंद गुप्त के शिव शंभु शर्मा के साथ होली खेली होगी वे शायद मेरी या ठीक-ठीक कहूं, हमारी हम साहित्यिकों की होली का दर्द समझेंगे। होली में बदली छायी हुई, समता की सतरंगी क्रांति के ऊपर विषमता की काली घटा लरजी हुई, हवा से मादकता गायब, वृंदावन से वसंत पलायित और वसंत से विश्वभावन काम रूठा हुआ, ऐसे में बोधा के अधूरे शब्दों में अपनी होली की अधूरी बात समाप्त करूंगा :

> कहिबे को बिथा सुनिबे को हँसी को दया सुनि कै उर आनतु हैं।
> अरु पीर घटै तजि धीर सखी दुख को नहिं कामै बखानतु है।
> कवि बोधा कहे में सवाद कहा को हमारी कही पुनि मानतु है।
> हमैं पूरी लगी कै अधूरी लगी यह जीव हमारोई जानतु है।

प्रौढ़ साक्षरता के कुछ भाषाई आयाम : हिंदी भाषा के संदर्भ में

प्रौढ़ साक्षरता समग्र शिक्षा का एक अंग है। भारतवर्ष के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि शिक्षा का एक बहुत बड़ा भाग मौखिक परंपरा या श्रुतज्ञान से पूरा किया जाता रहा है। अक्षरज्ञान की भूमिका उसमें अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण रही है। विभिन्न सर्जनात्मक कलाओं में हाथ, आंख और कान का संयोजन आवश्यक माना जाता रहा है। कुम्हार बर्तन गढ़ते समय या मिट्टी के खिलौने बनाते समय किसी न किसी बार-बार सुने हुए और ध्याए हुए वाचिक साहित्य को मन में रखता था, अपने सिखाने वाली की बातें मन में रखता था और उन्हीं के सहारे अपने को अपने रचना-कर्म में समाहित कर पाता था। इसी प्रकार बढ़ई या शिल्पी, या राज, या जुलाहा या छीपा किसीके पास भी प्रायः अक्षर-ज्ञान नहीं था, पर प्रत्येक के पास एक समृद्ध परंपरा थी और उस परंपरा का निरंतर प्रवाह वाचिक रूप में संक्रांत हो रहा था, यहां तक कि इस परंपरा में बहुत बड़ा विद्वान् हो जाना पूर्ण अक्षर-अभ्यास के बिना भी संभव था। अधिकांश पंडित पढ़ सकते थे, किंतु लिख नहीं सकते थे। अभी कुछ ही दशक पूर्व काशी में एक पंडित हुए—पंडित हरि नारायण त्रिपाठी, जो राजकीय संस्कृत कालेज में व्याकरण के गण्यमान्य अध्यापक थे और जिनके पास विद्यार्थियों की भीड़ हमेशा जुटी रहती थी, पर लिखने में वे इतने अकुशल थे कि स्वयं चौदह बार परीक्षा देने पर आचार्य में उत्तीर्ण हुए। शास्त्र का उन्होंने गहरा मंथन किया था, सुनकर और एकाग्र भाव से उसके सत्य का साक्षात्कार करके। पर उन्होंने लिखित संप्रेषण को गौण माना था। मध्य-युग में बहुत ऐसे कवि हुए जिन्होंने 'मसि-कागद' छुआ तक नहीं और 'हाथ में कलम नहीं गही' पर जिनकी वाणी स्पष्ट रूप में एक गहरे शिक्षित संस्कार को प्रमाणित करती है।

यह सब कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रौढ़ साक्षरता की आवश्यकता

या बाल्यकाल से साक्षर शिक्षा की आवश्यकता नहीं है या कम है। ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का आज सारी दुनिया में सबसे बड़ा साधन छापाखाना है और इतना सारा ज्ञान-विज्ञान श्रुतिबद्ध किया नहीं जा सकता। इसलिए इसके सिवाय कोई चारा नहीं है कि हम साधारण से साधारण व्यक्ति को भी इतना अक्षर ज्ञान करा दें कि वह छपी हुई और लिखी हुई सामग्री को पढ़ सके और स्वयं भी दूर-संदेश प्रेषण के लिए लिखित भाषा का प्रयोग कर सके, जिससे कि वह देश का एक सक्रिय और सजग नागरिक बन सके, वह खुले दिमाग से अपने समाज और अपने परिवेश के बारे में सोचकर स्वतंत्र रूप से अपने विवेक से निर्णय ले सके। यहां वाचिक परंपरा का संदर्भ देना इसलिए आवश्यक था कि हम उसका महत्त्व भी साथ-साथ समझते रहें और यह मानकर चलें कि जिस निरक्षर को हम साक्षर करने जा रहे हैं, वह अशिक्षित नहीं है। यह भी हम नाप-जोखकर चलें कि वह कितना शिक्षित है और किस प्रकार की भाषा में शिक्षित है ताकि, जब हम उसे भाषा के लिखित प्रतीक समझाने चलें तो उस प्रतीक के उन जाने-पहचाने संदर्भों को सामने रखें जो उसके ज्ञान का अंग बन चुके हैं।

आनंदकुमार स्वामी ने अपने एक प्रसिद्ध निबंध 'साक्षरता धर्म' में यह विचार रखा है कि भारतीय दृष्टि से उसी ज्ञान को व्यक्ति का स्वायत्त या उपार्जित ज्ञान कहा जा सकता है जो उसको कंठस्थ है। जिसका स्मरण दिलाये जाने के लिए उसे ग्रंथ तक जाना पड़ेगा, वह ज्ञान उसका आप्त नहीं है उसका केवल उसे पता है। आज भी लाखों व्यक्ति ऐसे होंगे जिन्हें भगवद्गीता के अध्याय कंठस्थ हों, अधिक विद्वान् लोग अनेक ग्रंथों से सैकड़ों श्लोक स्मृति से दुहरा सकेंगे। ईरानी कवि जलालुद्दीन रूमी का फारसी काव्य गाता हुआ मैंने पहले-पहल कश्मीर के एक निरक्षर देहाती गायक के मुंह से सुना था। प्राचीनकाल से ही भारत में विद्वान्, ज्ञानवान् उसे माना गया है, जिसने ज्ञानी गुरु से गहरा संस्कार पाया हो, उसे नहीं जो केवल बहुपठित हो।······साधारणतया संस्कारी समाजों में उत्पादन और निर्माण से संबद्ध सभी कर्म निरे श्रमकार्य न होकर कृति का अनुष्ठान होते हैं। उनसे संबद्ध गीत या नाटक एक प्रकार का स्तवन हो जाता है।

शिल्प का लघुतरलौकिक अनुष्ठान कर्म पारलौकिक जीवन के गुरुतर अनुष्ठान कर्म की भूमिका हो जाता है, किंतु आज के अमेरिका में (और आज के भारत में भी कम नहीं) जहां प्लेटो के दैवी न्याय-विज्ञान के संबंध में सोचना संभव नहीं रहा है, यह केवल ऐतिहासिक संयोग माना जायेगा कि ईसामसीह एक बढ़ई और बढ़ई के बेटे थे, इस तथ्य का सार्वभौम पक्ष अनदेखा रह जायेगा।

किसी भी विदेशी शिक्षक (एवं तथाकथित आधुनिक शिक्षाविद् भी) के लिए रस्किन द्वारा प्रतिपादित यह सत्य स्वीकार करना आज बड़ा कठिन हो गया है कि दूसरों की सहायता करने का एक ही उपाय है—उन्हें अपनी परिपाटियां

सिखाने का आयोजन न करके यह पता लगाना कि वे हमारे आने से पहले क्या करते थे और करना चाहते थे और वही करने की उनकी कुशलता यथासंभव बढ़ाना।

कुमारस्वामी से इतना लंबा उद्धरण देने का तात्पर्य केवल यह है कि हिंदुस्तान में प्रौढ़ साक्षरता का अभियान जीवन की गुणवत्ता और उसके आस्वाद की पहचान में असफल रहा है और इसलिए उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव अभी तक दृष्टि-गोचर नहीं हुआ है। यही नहीं, सारा का सारा अभियान एक शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा है। कुमारस्वामी जिन खतरों की ओर संकेत करते हैं, वे खतरे हमारे साक्षर शिक्षित मन के दोष के कारण पैदा हुए हैं, क्योंकि साक्षर व्यक्ति सोच ही नहीं पाता कि साक्षरता के अतिरिक्त भी शिक्षा का कोई आयाम है और इसलिए वह जब निरक्षर व्यक्ति की ओर कृपा-भाव से देखता है कि कितना अभागा है यह, इसे अक्षरज्ञान भी नहीं प्राप्त हुआ है तब वह सहायक बनकर नहीं, बल्कि उद्धारक बनकर उसके पास जाता है और परिणाम यह होता है कि एक दुर्लंघ्य दीवार बीच में आ जाती है और साक्षरता का अभियान एक अर्थहीन उपचार बनकर रह जाता है।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध शिक्षाविद् पाउलो फ्राइरे ने अपनी पुस्तक 'कल्चरल ऐक्शन आफ फ्रीडम' में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि सामाजिकीकरण की अन्य प्रक्रियाओं की भांति ही शिक्षा भी या तो अत्यधिक नियमन लाने की ओर झुकती है, दूसरे शब्दों में पालतू बनाती है या मुक्त करती है, वह तटस्थ नहीं रहती। दुर्भाग्यवश प्रौढ़ साक्षरता का अभियान पालतू बनाने के उद्देश्य से अभिप्रेरित है। यही कारण है उसने कोई स्फूर्ति या रुचि नहीं पैदा की। उसने या तो संशय उत्पन्न किया या निराशा पैदा की। प्रौढ़ साक्षरता की पुस्तकों में एक झूठी आशा जगायी जाती रही है कि आदमी के पढ़ते-लिखते ही उसकी आर्थिक स्थिति सुधर जायगी, उसका शोषण समाप्त हो जायेगा। यह आशा पूरी नहीं होती और इसका परिणाम होता है कि साक्षरता के पूरे अभियान के मौन विरोध में नवसाक्षरों का एक नया वर्ग खड़ा हो जाता है। इसके कारण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया भी अवरुद्ध हो जाती है और साक्षरता के आगे का अभियान कुंठित हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम एक तो साक्षरता के उद्देश्य के बारे में स्पष्ट हों कि प्रौढ़ साक्षरता का मुख्य उद्देश्य लोगों के सोचने की, काम करने की, और जाने हुए संसार को और अधिक जांचने की क्षमता प्रदान करना है, कि उसका उद्देश्य उन्हें किसी सरकारी नीति को मनवाना न होकर उन्हें इस बात के लिए उत्सुक बनाना है कि बहुत कुछ संसार में घटित हो रहा है, जो उनके लिए प्रासंगिक है और जो उनके जाने हुए संसार को और अधिक आत्मीय बना सकता है। साक्षरता इसमें सहायक हो सकती है। लिखने का अर्थ होता है हाथ से कुछ करना। लिखना बोलने

की अपेक्षा अधिक स्पष्टता की ओर ले जाता है। एक प्रकार से गंतव्य के धुंधलेपन को छांटने में सहायक होता है। इसीलिए लिख सकना, पढ़ सकना और पढ़कर सुना सकना मनुष्य को स्वाधीन रूप से सोचने, समझने और करने की क्षमता देने के उत्कृष्ट साधन बनते हैं। हिंदुस्तान में पढ़ने से अधिक वाचन का महत्त्व है, पढ़ना अपने लिए होता है, वाचन दूसरों के लिए। हिंदुस्तान के सांस्कृतिक विकास में कथावाचकों और गायकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि साक्षरता के उद्देश्य में वाचन-कौशल सम्मिलित किया जाय तो साक्षर व्यक्ति के भीतर यह आकांक्षा जगायी जा सकती है कि मैं वाचक बनकर दूसरों के लिए उपयोगी बनूं। वह स्वयं तो स्वाधीनता का संस्कार प्राप्त करेगा ही, दूसरों के मन में भी स्वाधीनता की आकांक्षा जगा सकेगा।

ऊपर जिन दो बातों की ओर संकेत किया गया है उनमें एक का संबंध साक्षरता अभियान की जमीन से है और दूसरे का संबंध उसके आकाश से। जिस ज़मीन में पौधा रोपा जाना है, उसकी जानकारी होनी चाहिए और उसीके अनुसार पाठ्यक्रम बनाना चाहिए। उसी जमीन की भाषा होनी चाहिए और सर्जनात्मक रूप से सोचने का वही तरीका होना चाहिए। बजाय इसके कि हम शुरू करें कि रतन शहर में काम करने गया और उसे पढ़-लिखकर यह प्रेरणा जगी कि गांव में जाकर गोपालन का धंधा शुरू किया जाय, गांव में उसने धंधा शुरू किया और खुशहाल हो गया, यहां से शुरू करना अधिक अच्छा होता कि सूर का भजन सुना और उसने सोचा, मेरे भी गायें होतीं और उसका प्रभाव उपदेशपरक न होकर रागात्मक होता। किसान हो, बढ़ई हो, लुहार हो, उसके अनुभव को लगभग उसीके शब्दों में टांका जाता जिससे कि परिचित अनुभव के लिए एक दृश्य संकेत पाकर अपने अनुभव को और अपनी भाषा को नवसाक्षर अधिक मूल्यवान् समझने लगें तो उसका प्रभाव गहरा होता।

मेरे निजी अनुभव की बात है कि मैंने लोककथा या लोकगीत अंकित करके छपाया है और जिनसे सुन-सुनकर के अंकित किया था, उन्हें दिखलाया और सुनाया तो उनके चेहरे पर एक अपूर्व आत्मविश्वास और आत्म-गौरव की झलक दिखाई पड़ी। भारत की अधिसंख्य जनता ने अपनी हनुमत् शक्ति को बिसरा दिया है। साक्षरता का अभियान इस उद्देश्य से होना चाहिए कि वह अपनी शक्ति पहचानें, यह तभी होगा जब पहचान कराने वाले के मन में कोई गांठ न हो, उसका मन स्वीकारी मन हो, वह स्वयं उस शक्ति को पहचान चुका हो और इसीलिए उसके भीतर इस पहचान को आत्म-विस्मृत जनता के बीच चिनगारी की तरह पूरी ढेरी के नीचे रखने में विनम्रता हो। पाउलो फ्राइरे ने अपनी पूर्वोल्लिखित पुस्तक में एक छोटी-सी पुस्तिका (जिसे उरुगवे की एक प्रौढ़ शिक्षक टोली ने १९६८ में छपवायी थी) का उल्लेख किया है और उसके एक पाठ का उदाहरण दिया है।

पाठ ऐसे शुरू होता है :

'पानी ? पानी ? किस काम आता है पानी ? हां, हां, यह पानी है। (पुस्तक में उसका चित्र है) हां, बहुत दूर मेरे गांव में···(अधूरा वाक्य) तुम्हें अपने गांव की याद आती है ? मेरे गांव के पास एक छोटा-सा सोता था, एक छोटी-सी नदी बहती थी···उसका नाम···था। उसके पानी की याद आती है तो···तो हजार-हजार अच्छी चीजें, खूबसूरत चीजें याद आती हैं :

किस काम में लाते थे पानी ?

हम इस नदी में कपड़े धोते थे।

हमारे पशु इसमें पानी पीने आते थे।

हम इसमें घंटों नहाते थे।'

इस प्रकार यह पाठ आगे बढ़ता है और इसमें धीरे-धीरे जीवन में पानी के महत्त्व की बात आती है और बिना प्रयास ही पानी को स्वच्छ रखने की आवश्यकता मन में अंकित हो जाती है।

इस उदाहरण से केवल यह प्रदर्शित करना अभिप्रेत है कि जिसे साक्षर बनाना है, उसके अनुभव—संसार (जिसमें उसकी भाषा भी शामिल है) को प्रारंभिक बिंदु के रूप में स्वीकार करना चाहिए। पढ़ाने वाले को अपना अनुभव संसार या अपनी दृष्टि या अपनी भाषा आरोपित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यह मालूम नहीं होने देना चाहिए कि हम पढ़ा रहे हैं, बल्कि ठीक उल्टे यह आभास देना चाहिए कि हम ही पढ़ रहे हैं और यदि पढ़ा रहे हैं तो उन्हीं की ओर से पढ़ा रहे हैं, जो अपने अनुभव को ध्यान से पढ़ने के लिए हमारे पास बैठे हैं।

दूसरी बात आकाश की अर्थात् लक्ष्य की है। लक्ष्य यदि साक्षर को पालतू बनाना है तो जनतांत्रिक परिवेश में वह नहीं चलेगा (चलेगा तो एकतंत्रीय परिवेश में भी नहीं, वहां भी प्रसुप्त ज्वालामुखी की तरह इस प्रकार के दबाव में व्यक्ति सुलगता रहेगा और एक दिन विस्फोट के रूप में उबल पड़ेगा) उद्देश्य तो स्वाधीन मन, कर्म, वचन का संस्कार जगाना ही होना चाहिए। इस उद्देश्य को सामने रखने पर प्रचार-केंद्रित पाठों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है, साथ ही साथ अत्यंत बेढंगे तरीके से प्रस्तुत की गई साक्षरता की उपलब्धियां भी निरर्थक हो जाती हैं।

पालतू बनाने का उद्देश्य बहुत भोंड़ा उद्देश्य होता है और उसका प्रभाव प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि वह एक ऐसे मौन प्रतिरोध को जन्म देता है जिसकी परिणति बदला लेने की इच्छा में होती है। मनुष्य स्वाधीन प्राणी है, उसकी स्वाधीनता को मूल्य के रूप में शताब्दियों के सामाजिक विकास के अनंतर वरण किया है। इस लिए उसकी स्वाधीनता को उसकी इच्छा के विरुद्ध नियमित नहीं किया जा

सकता और इच्छा उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न हों भी तो तभी सफल होंगे जब वे बरावरी के धरातल से किए जायं, नियामक के धरातल से नहीं। जब पालतू बनाने के उद्देश्य से साक्षरता का पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है तो समस्याओं का अत्यंत सरल तथा अयथार्थ समाधान प्रस्तुत किया जाता है, जो यदि बहुत भोंड़ा हुआ तो केवल उपहास का विषय बनता है और कुछ बारीकी के साथ प्रस्तुत किया गया तो आशंका और भय को अभिप्रेरित करता है। दोनों ही दशाओं में पढ़ाने वाले और पढ़ने वाले के बीच में संवाद नहीं स्थापित हो पाता। इसके ठीक उल्टे यदि स्वाधीन बनाने का उद्देश्य सामने हो तो पाठ निश्चय ही एक सही यथार्थ प्रतिबिंबित करेगा और उस यथार्थ का सामना करने के लिए इस प्रकार का साहस देगा कि पढ़ने वाला आदमी समझे कि हम जो एक गूंगेपन के शिकार रहे हैं, आज ऐसी वाणी पा रहे हैं जिसके माध्यम से हम उन शोषक शक्तियों का भी सामना कर सकते हैं जो कहीं परदे के पीछे छिपी हुई हैं, साथ ही इस प्रकार के पाठ की भाषा जीवन की संवेदना से पुलकित भाषा होगी। वह एक कदम आगे ले जाने वाली होगी। उसकी लय ऐसी बरबस मोहक लय होगी, आधी परिचित होगी, आधी अपरिचित और इसीलिए आदमी को अनायास आगे खींच ले जाने में समर्थ होगी।

अब यहीं प्रश्न उपस्थित होता है कि किस प्रकार पहचाने और अनपहचाने, जाने और अनजाने शब्दों और अर्थों का संतुलन रखा जाय। इसके साथ ही साथ यह भी प्रश्न उठता है कि साक्षरता के माध्यम के रूप में मानक भाषा के साथ कितनी छूट ली जाय। यह तो निर्विवाद है कि क्षेत्रीय बोली को माध्यम बनाना स्वाधीनता के उद्देश्य में बाधक होगा, क्योंकि उससे संधकर पूर्ण स्वाधीनता की अवधारणा की ही नहीं जा सकती। स्वाधीनता हर प्रकार संकरेपन से वांछनीय है, वह संकरापन जाति का हो, क्षेत्र का हो या वर्ग का हो, स्वाधीनता का अर्थ है विचार के क्षितिज का विस्तार, कर्म के क्षेत्र का विस्तार, और मानवीय संबंध की परिधि का विस्तार और ऐसा खुलापन जिसके आलोक में हर चीज साफ-साफ दिखे। जो लोग क्षेत्रीय बोलियों को साक्षरता के माध्यम के रूप में उपयोग की बात करते हैं, वे इस पहलू को भूल जाते हैं। क्षेत्रीय बोलियों के मुहावरों, कहावतों सूक्तियों और कहानी कहने के लहजों का उपयोग तो नितांत अपेक्षित है, पर वह सब एक व्यापक भाषा के चौखटे में ही अधिक प्रभावकारी हो सकता है। उदाहरण के लिए गोपालन पर पाठ तैयार करना हो तो सूरदास से विभिन्न प्रकार की गायों के वर्णन की सामग्री का उपयोग किया जा सकता है और उसके द्वारा एक काव्य लक्ष्य का संकेत किया जा सकता है। पर इसके साथ ही गांवों की उपेक्षा का यथार्थ भी उपस्थित करना चाहिए, जिससे कि एक उत्साहपूर्ण संकल्प हो गोधन की समृद्धि प्राप्त करने के लिए और वह उत्साह निरा आर्थिक नहीं होगा। वह

अधिक गहरा होगा। इसी प्रकार रहीम, कबीर, तुलसी, वृंद, गिरधर जैसे कवियों और घाघ, भड्डरी जैसे मूक्तिकारों का तथा लोककथाओं, लोकगाथाओं और लोकगीतों का उपयोग किया जा सकता है। उनके शब्दों को हिंदी व्याकरण में ढाला जा सकता है। इससे पढ़ने वाले विषयवस्तु से परिचित होंगे, अधिकांश शब्दों से परिचित होंगे। पर एक ऐसी संरचना का परिचय प्राप्त कर रहे होंगे, जो अभी पूरा तरह रची-पची नहीं है। इसी प्रकार वर्ण्यवस्तु में भी ऐसा संयोजन किया जा सकता है कि आधी वर्ण्यवस्तु उनके अनुभव-संसार से ली गयी हो और आधी ऐसे संसार से जिसके बारे में उनका अनुभव नहीं है या है भी तो धुंधला और ऐसा है, जो उनके अनुभव का गोचर हो सकता है। उदाहरण के लिए जब हम गांव के किसान के लिए पाठ बनाते हैं और उसमें तुरंत पहचान किये जाने वाले तद्भव शब्दों को छोड़कर तत्सम शब्दों का उपयोग करते हैं या गांव में असंभव या लगभग असंभव परिस्थिति का आरोप करते हैं तो सीखने की उत्कंठा के ऊपर एक अनावश्यक दबाव डालते हैं।

एक तीसरी बात भी यहां आवश्यक है। प्रस्तुति का ढंग अर्थात् एक शब्द के बाद दूसरे शब्द को या एक वाक्य के बाद दूसरा वाक्य प्रस्तुत करने का ढंग ऐसा नाटकीय होना चाहिए कि बीच-बीच में पढ़ने वाला यह महसूस करता रहे कि यह उसीका सवाल है, उसीका जवाब है, उसीका स्वप्न है, उसीका दर्द है और उसीका सोचा हुआ समाधान है। शब्दों का क्रम ऐसा होना चाहिए कि एक के बाद दूसरा आने वाला शब्द साहचर्य से जुड़ा हुआ हो, जैसे नाक के साथ कान, जैसे कच्चा के साथ पक्का, आना के साथ जाना, घर के साथ बाहर। लिपि की दृष्टि से समीप शब्दयुग्मों का क्रम कभी-कभी अर्थ-साहचर्य के अभाव में भारी पड़ जाता है, जैसे लाख के बाद लाखन और लाल देना अर्थ साहचर्य के अभाव में दृश्य और श्रव्य बिंबों में ठीक-ठीक अन्विति लाने में असमर्थ रहता है। लख के बाद लखन और लखन के बाद लाल क्रम अधिक अन्वित होता है क्योंकि तब अपने-आप एक वाक्य बनता है लख, लखन लाल जिसकी कहीं न कहीं गूंज रामकथा से परिचित निरक्षर प्रौढ़ के मन में है। लिपि सिखाने में भी ऐसे लिपि संकेतों को जो कुछ सदृश लगते हैं एक साथ पहले नहीं लेना चाहिए। अधिक आवृत्ति वाले लिपि-संकेतों को पहले लेना चाहिए जैसे अ, क, र, स, प जैसे लिपि संकेत हिंदी में बार-बार आवृत्त होते हैं। ऐसे संकेतों की आवृत्ति अभ्यास के लिए करानी चाहिए। पर लिपि से कम महत्त्व शब्द की ध्वनि और उसके अर्थ दोनों के साहचर्य पर आधृत क्रम का नहीं है। और यहीं पर न केवल शिक्षा-मनोविज्ञान की आवश्यकता है बल्कि जिस सामाजिक समुदाय को साक्षर बनाना है, उसके समाजमनोविज्ञान की भी उपयोगिता है।

प्रस्तुति के नाटकीय ढंग का अर्थ यह न समझा जाय कि घिसे-पिटे संवाद रख

दियें जायें, जिसमें एक प्रश्न करने वाला है और दूसरा समाधान करने वाला है। इस प्रकार का संवाद न केवल नीरस होता है, बल्कि वह यह प्रभाव उत्पन्न करता कि किसान बिल्कुल बेवकूफ है और कोई ज्ञानी आदमी उसे रास्ता दिखा रहा है। यह प्रभाव सीखने की रुझान में बड़ी जबरदस्त रुकावट पैदा करता है। संवाद सतह पर ही नहीं होता संरचना के भीतर भी होता है जैसे प्रसिद्ध अवधी लोक-गीत के हिंदी रूपांतर के ये दो वाक्य लें :

एक हि बाँस में दो करले
एक बाँसुरी बनता है एक बाँस।
एक ही माँ की दो संतानें
एक बहन, दूसरा भाई।

इन दोनों वाक्यों में प्रश्नोत्तर के रूप में संवाद नहीं है, बल्कि समानांतर स्थिति के रूप में एक संवाद है और लोकगीत में कहीं भी कहा नहीं जाता कि लड़की बांसुरी है और लड़का बांस, कि लड़की कोमलता है और लड़का पौरुष। पर बिना कहे केवल क्रम के विनियोजन में यह बात सहज रूप से हृदयंगम हो जाती है कि यह गीत लड़की और लड़के को बराबर महत्त्व देता है और पौरुष तथा कोमलता को एक-दूसरे के पूरक के रूप में स्थापित करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि संवाद वार्तालाप में नहीं होता। संवाद एक जोड़ है। कभी-कभी यह जोड़ बराबर दुहराये जाने से और अधिक अर्थवान् होता रहता है।

उदाहरण के लिए इटली के एक शहीद विचारक ग्रामिशी के एक पत्र में एक कहानी का जिक्र आता है। ग्रामिशी जेल से अपने एक रिश्तेदार के पास पत्र लिखता है कि मैंने बचपन में यह कहानी सुनी थी, उसे तुम भी अपने बच्चे को जरूर सुनाना। कहानी इस प्रकार है :[1]

एक गरीब की झोंपड़ी है। उसमें एक बच्चा बिना दूध पिये सो गया। बच्चे के लिए मां ने दूध ढककर रख दिया था। रात में बिल्ली आयी। उसने ढक्कन गिरा दिया और दूध पीने लगी। तब तक चूहे को आहट मिली। बिल्ली चूहे की ओर झपटी। चूहा बाहर भागा, बिल्ली भी बाहर भागी, चूहा झोंपड़ी में एक छोटे-से सुराख से भीतर आया और उसने देखा कि दूध का वर्तन खुला है। उसने छककर दूध पिया और बिल में छिप गया। बच्चा जगा और भूख से रोने लगा। वह रोता रहा, रोता रहा। मां भी रोने लगी, लगा झोंपड़ी रो रही है। चूहा भी रोने लगा। वह मां के पास आया और बोला, "रोओ मत। मैं अभी दूध लाऊंगा।" मां को हंसी आयी। छोटा-सा चूहा इतनी रात कहां से दूध लायेगा। चूहा दौड़ा गाय के पास गया, "गाय, गाय, मुझे दूध दो। मैंने बच्चे का दूध पी लिया है। बच्चा रो रहा है।" गाय बोली,"मुझे घास नहीं मिलती है, मैं सूख गयी हूं। घास लाओ तब दूध दूंगी।" चूहा दौड़ा घास के मैदान की ओर। मैदान से कहा, "मैदान, मैदान, घास

दो। मैं यह घास गाय को दूंगा। गाय मुझे दूध देगी, वह दूध मैं बच्चे को दूंगा।" मैदान बोला, "कहां घास, मुझे पानी ही नहीं मिलता, मुझे पानी दो तो मैं तुम्हें घास दूंगा। तुम गाय को घास खिलाना, गाय तुम्हें दूध देगी। वह दूध बच्चे को पिलाना।" चूहा दौड़ा नदी के पास गया, "नदी, नदी, पानी दो, मैं वह पानी मैदान को दूंगा। मैदान मुझे घास देगा। घास मैं गाय को दूंगा। गाय मुझे दूध देगी, दूध बच्चे को दूंगा और बच्चा हंसने लगेगा।" नदी बोली, "पानी कहां से दूं? मैं तो सूखी पड़ी हूं। पर्वत से कहो, मुझे पानी दे।" चूहा दौड़ा पर्वत के पास पहुंचा, "पर्वत, पर्वत, तुम नदी को पानी दो, नदी मुझे पानी देगी, मैं पानी मैदान को दूंगा। मैदान मुझे घास देगा, वह घास मैं गाय को दूंगा। गाय मुझे दूध देगी। वह दूध मैं बच्चे को दूंगा। बच्चा हंसने लगेगा।"

पर्वत बोला, "हट, हट, आदमी के बच्चे के लिए मैं पानी नहीं देता। उस आदमी के बच्चे ने हमें नंगा कर दिया है। हमारे सारे पेड़ काट डाले हैं। पेड़ थे तो पानी रोकते थे, हमारी जड़ों को बांधकर रखते थे। पेड़ कट गये, हम उजाड़ हो गये, हम ढहने लगे। हम कहां से पानी दें? हमारे पास पानी टिकता ही नहीं।" चूहा बोला, "मैं उस आदमी के बच्चे की ओर से आपको यह वचन देता हूं कि जब वह बड़ा होगा तो हजार-हजार पेड़ लगायेगा और तुम हरे-भरे हो जाओगे। नदी में पानी छोड़ो।" पर्वत ने पानी छोड़ा, नदी भरी, फिर नदी ने मैदान को पानी दिया, मैदान में घास उगी, गाय को घास मिली, गाय ने दूध दिया वह दूध लेकर चूहा पहुंचा, दूध बच्चे को पिलाया और बच्चा हंसने लगा। फिर चूहे ने बच्चे से कहा, "मैं तुम्हारे लिए रोज-रोज दूध लाता रहूंगा पर तुम एक वचन दो। मैं तुम्हारी ओर से वचन हारकर आया हूं। वचन दो कि बड़ा हूंगा तो जितने नंगे पहाड़ हैं, सबके ऊपर हजार-हजार पेड़ लगाऊंगा।" बच्चे ने वचन दिया। बड़ा हुआ और उसने वचन निभाया। पेड़ लगाया, पहाड़ हरा-भरा हुआ, नदियां भरी रहने लगीं। मैदान में खूब घास हुई, गायें घास चरकर अघाने लगीं। ढेर सारा दूध होने लगा और अब कोई बच्चा दूध के लिए नहीं रोता।

ऊपर ग्रामिशी की कहानी का एक भाषांतर देने की कोशिश की गयी है। पूरी कहानी इसलिए दी गयी है कि इसके समग्र प्रभाव को ठीक-ठीक जांचा जा सके। इसकी बनावट के ऊपर ध्यान देने पर तीन मुख्य विशेषताओं के कारण यह कहानी इतनी गहराई में छूती है।

१. इसमें कहीं भी उद्देश्य की गंध नहीं है। अपने-आप कहानी का संदेश हृदयंगम हो जाता है। आदमी की एक ऐसी भूख भी होती है जो समूची सृष्टि का क्रम बिगाड़ देती है और एक भूख होती है, जो वास्तविक होती है जो उसे मनुष्य बनाती है। इस दूसरी भूख की पूर्ति न हो तो मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। मनुष्य की पहली भूख के बारे में यह कहानी एक चेतावनी का कार्य करती है।

आदमी की विनाशकारी भूख के कारण चूहा आदमी से बड़ा हो जाता है, क्योंकि चूहा अपनी भूख इस कीमत पर नहीं मिटाता कि दूसरे भूखे रहें और यदि अपनी भूख मिटाता भी है तो दूसरे की भी भूख मिटाने की कोशिश करता है।

२. दूसरी विशेषता यह है कि इसमें बार-बार चूहा दुहराता है कि बच्चा भूख के कारण रो रहा है, उसे कुछ चाहिए। साथ ही बार-बार पूरी कारण-शृंखला को भी दुहराता है। इस पुनरावृत्ति का एक जादुई प्रभाव होता है। एक मंत्र सरीखा प्रभाव होता है और कहानी में इस पुनरावृत्ति के द्वारा पूरे जीवन-चक्र में एक संवाद स्थापित करने का उद्देश्य पिरो दिया जाता है ।

३. तीसरी विशेषता यह है कि कहानी तर्कसंगत न होते हुए भी बड़ी उद्-बोधक और मन में घर करने वाली है, क्योंकि यह एक प्रकार से मनुष्य के दायित्व को चर-अचर प्राणियों को सौंपकर यह स्मरण दिलाती है कि सब तुम्हारे लिए सोच रहे हैं, पर तुम हो कि अपने लिए रो रहे हो। उठो, तुम समर्थ प्राणी हो। सबके लिए कुछ ऐसा करो कि समग्र जीवन सुखी हो।

चूहे, नदी, गाय, पर्वत को पात्र बनाने वाली यह कहानी अनावश्यक विस्तार में नहीं जाती। उतना ही कल्पना करती है, जितनी कि यथार्थ के तीखे बोध के लिए आवश्यक है। इस कहानी में यथार्थ और कल्पना का बहुत बढ़िया संतुलन है।

यह कहानी एक दृष्टांत मात्र है कि परिवेश के संतुलन की कल्पना करके आज से ६० वर्ष पूर्व यथार्थवादी विचारक आने वाली पीढ़ी को इस कहानी के प्रभाव से आबद्ध करना चाहता है ताकि वह परिवेश के संतुलन के प्रति दायित्व निभाती रहे। ग्रामिशी के संबंध में एक बात और जोड़ दें कि वे एक साम्यवादी विचारक थे और इन विचारों के कारण अपने जीवन का समस्त उत्तरार्द्ध उन्होंने जेल में काटा और वहीं उनकी मृत्यु हुई। अभी हाल ही में उनके पत्रों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। जो लोग आगे के विकास की योजना करना चाहते हैं ग्रामिशी के इस पत्र में उद्धृत कहानी से शिक्षा पा सकते हैं कि ऐसी योजना के लिए अभिप्रेरणा मानवीय मूल्यों को सांकेतिक और रंजक के रूप में उभार करके ही की जा सकती है।

वर्ण्यवस्तु और भाषा में एक गहरा संबंध होता है। ऊपर की कहानी का वातावरण परिचित है पर जिस प्रकार की भाषा का उपयोग किया गया है वह पूरे वातावरण को अत्यंत आत्मीय बना देती है और यह बात प्रौढ़-साक्षरता के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसीलिए लिपि सिखाते समय उच्चारण या वाचन का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कहानी सुनाने का ढंग यदि मोहक हो तो दृश्य संकेतों का अधिक शीघ्रता के साथ अधिगम हो सकता है। तब स्वतः उत्कंठा होती है कि ऐसे हृदयंगम संदेश का लिखित रूप शीघ्र आ जाए। वाचन का महत्त्व भारतीय परिवेश में विशेष रूप से साक्षरता अभियान में रेखांकित किया जाना चाहिए।

शब्दों के चयन में तीन बातें विचारणीय हैं। एक तो उन्हें किस रूप में लिखा जाए? उच्चारण के अनुकूल या परंपरागत वर्तनी के अनुकूल। कुछ लोग कष्ट, पुष्ट, रुष्ट, विष को तालव्य श से लिखने के हिमायती हैं कश्ट, पुश्ट, रुश्ट, विश। उनका तर्क यह है कि मूर्धन्य ष और तालव्य श के उच्चारण में कोई अंतर नहीं रह गया है। पर यदि प्रौढ़ साक्षर को आगे पढ़ने के लिए अभिप्रेरित करना है तो जब तक पूरे हिंदी लिखत-पढ़त व्यवहार की वर्तनी में मूर्धन्य ष का लोप न हो जाय, तब तक मूर्धन्य ष को तालव्य श लिखना इस उद्देश्य में बाधक बना रहेगा क्योंकि जब नवसाक्षर मूर्धन्य ष के साथ कष्ट, पुष्ट पढ़ेगा तो उसे ये शब्द अजनबी प्रतीत होंगे। किंतु इसके साथ ही साथ एक अक्षर के दो संकेत हैं तो वहां प्रारंभ की पुस्तकों में उनमें से वह संकेत सिखाया जाय जो अत्यधिक प्रचलित है जैसे अ, झ, त्र, द्ध के लिए एक रूप-संकेत और हैं—श्र, भ्क, त्र, क्ष इत्यादि। इनमें से जो सबसे अधिक व्यापक हैं उनका अभ्यास कराना ही समीचीन होगा। सीखने के दूसरे सोपान में विकल्प संकेतों का निर्देश करना चाहिए जहां तक ऋ का प्रश्न है, उसके स्थान पर रि वहां लिखा जा सकता है, जहां शब्द अर्द्धतत्सम रूप में भी हैं, जैसे रितु (वसंत) और प्रारंभ में ऐसे शब्द लिये जा सकते हैं, जो अर्द्धतत्सम हैं, जैसे रीछ ऋक्ष की जगह, रिसिमुनि ऋषिमुनि की जगह, रितु ऋतु की जगह। बाद में ऋ के साथ वाले तत्सम रूप सिखाये जा सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञान को तद्भव रूप में ग्यान लिखना भाषा सिखाने की दृष्टि से प्रथम सोपान में उपयोगी है। दूसरे सोपान में इसका तत्सम रूप ज्ञान निर्दिष्ट किया जा सकता है।

दूसरा प्रश्न यह है कि तद्भव शब्द कितनी मात्रा में क्षेत्रीय बोली से लिये जाएं। ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं कि क्षेत्रीय बोली को ज्यों का त्यों स्वीकार करना श्रेयस्कर नहीं है। उसको अच्छे साहित्यिक हिंदी में रूपांतरण करना चाहिए तथा उसके सजीव शब्दों को अवश्य वांछनीय मानना चाहिए। चौखटा जरूर परिनिष्ठित हिंदी का ही रखना उचित है। क्षेत्रीय बोलियों से तद्भव शब्द लेते समय दो बातें ध्यान में रखनी होंगी—एक तो यह कि जहां परिनिष्ठित हिंदी का तद्भव रूप बोली के संवादी रूप से अलग है, वहां परिनिष्ठित हिंदी का तद्भव रूप ही ग्रहण करना चाहिए, जैसे हिंदी बाल के भोजपुरी में बार है, परवल के लिए परोरा और मूंछ के लिए मोंछ है। हमें यह बाल, परवल, मूंछ को ही ग्रहण करना होगा, बार, परोरा और मोंछ को नहीं। इस थोड़े-से अपरिचित रूप को भोजपुरी क्षेत्र के निरक्षर को पकड़ने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि हम उसकी भाषा के तद्भव रूप स्वीकार करते हैं तो उसे साक्षर होने के बाद दूसरे क्षेत्र के साक्षर से संवाद स्थापित करने में कठिनाई होगी। पर यदि परिनिष्ठित हिंदी के पास ठीक उसी अर्थ में कोई तद्भव रूप नहीं है तो उस स्थिति में क्षेत्रीय बोली के तद्भव रूप में ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं होना

चाहिए। उदाहरण के लिए हिंदी के पास प्रातःकाल से अधिक पूर्व के समय के लिए भोर शब्द है, पर भोजपुरी में उसके भी पूर्ववाले क्षण के लिए भिनुसार शब्द है। परिनिष्ठित हिंदी में यह शब्द नहीं है। यहां हम भिनुसार को ले सकते हैं क्योंकि यह भोर से पहले का समय बतलाता है और इस सूक्ष्म समय-विभाजन का हमारी कृषक संस्कृति में बड़ा महत्त्व है। दुपहरी के बाद वाले समय के लिए सिपहरी शब्द क्षेत्रीय बोली से ले सकते हैं या खेत की दूसरी बार की जुताई के लिए सोमरा शब्द और तीसरी बार की जुताई के लिए तिखरा शब्द ले सकते हैं। खेती और ग्रामीण धंधों में बहुत-से शब्द हैं जो परिनिष्ठित हिंदी में लिये जा सकते हैं। और उन संदर्भों में प्रगति के नाम पर उड़ेले गए अंग्रेजी के उधार शब्दों से बचा जा सकता है। साथ ही साथ संस्कृत तत्समीकरण से भी बचा जा सकता है। 'गृह-वाटिका' के स्थान पर 'कोला' या 'फुलवारी' जैसे शब्द अधिक उपयुक्त होंगे। इसी प्रकार संस्कृत के सदैव, भंडारण, एकत्र, हरण, क्षरण, शरण, पाषाण, ज्ञाता, भक्षण, उपलक्ष्य आदि शब्दों का भी प्रारंभ में लाना अध्येता के ऊपर काफी भार देना है। स्वास्थ्य और कृषि सेवाओं की कृपा से दवाओं और उर्वरकों से अधिक उनके अंग्रेजी नाम यद्यपि गांवों में पहुंच गए हैं लेकिन उन नामों को पहली पोथी में घुसेड़ देना उचित नहीं है, क्योंकि यह इस प्रकार का भाषा संस्कार होता है कि आदमी अपनी भाषा को हीन समझने लगता है और भीतर-भीतर कुंठित होने लगता है। या तो इन नामों के देशी उच्चारण को स्वीकार करते हुए उसी तरह उसी के अनुरूप लिखा जाय जैसे अंग्रेजी के Wrench को रिंच और Canister को कनस्तर कहा जाता है तो वैसे ही लिखा भी जाना चाहिए या फिर अंग्रेजी उधार शब्दों को कई किस्तों में सामने लाना चाहिए।

वस्तुतः जब तक यहां-वहां से नमूने के तौर पर सर्वेक्षण के द्वारा एक अधिक व्यापक रूप का निर्धारण न हो जाय, तब तक ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि इन उधार शब्दों को कैसे लिखा जाय। वैसे भी किसी भी पाठ्य सामग्री के निर्माण के पूर्व इस प्रकार का सर्वेक्षण आवश्यक है। हिंदी भाषी निरक्षर जनता के लिए तैयार की जाने वाली पाठ्य पुस्तक में कौन-कौन-से शब्द किस क्रम से लिये जाएं, इसका निश्चय करने के लिए भी हिंदी प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों का सर्वेक्षण आवश्यक है। इस सर्वेक्षण के लक्ष्य के रूप में दो-तीन बातों को सामने रखना चाहिए। एक तो यह निर्धारित करना कि कौन शब्द समस्त क्षेत्रों में जनजीवन में व्यापक रूप में प्रयुक्त है। दूसरे यह निश्चय करना कि व्यापक रूप से शब्द निर्माण की प्रक्रिया विशेष रूप से तद्भव शब्द से समास-निर्माण और साधित शब्द निर्माण की प्रक्रिया क्या है। और तीसरी बात यह पहचानना कि कौन-कौन शब्द संदर्भगत साहचर्य में आते हैं। इन तीन लक्ष्यों से किये गए सर्वेक्षण से प्राप्त जानकारी का उपयोग किया जाय तो पाठ्य सामग्री अधिक सक्रिय रूप से बुद्धि-

गम्य होगी।

अंत में शब्द-चयन से संबद्ध एक तीसरा पक्ष रह जाता है। अर्थ की दृष्टि से इन शब्दों का क्रम कैसे निर्धारित करें? स्पष्ट है कि मूर्त्त अर्थ रखने वाले शब्दों को पहले लायेंगे, क्योंकि इनके साथ हम चित्र दे सकेंगे और अमूर्त्त अर्थ रखने वाले शब्दों को बाद में। हाँ, अमूर्त्त अर्थों के द्योतक शब्दों को भी उनके मूर्त्त प्रभाव के द्वारा प्रतिबिंबित करते हुए सामने ला सकते है। जैसे सुख-दुःख, हंसी-रुलाई, चिंता-हर्ष, उत्सुकता-आश्चर्य जैसे भाववाचक शब्दों को चेहरे पर इन विभिन्न भावों के बिंब देते हुए प्रस्तुत कर सकते हैं। मूर्त्त शब्दों में भी परिवेश से संबद्ध मूर्त्त शब्द अधिक सुगमता के साथ ग्रहण किए जा सकते हैं और यहां पूर्व प्रतिपादित सिद्धांत से हटकर यह सोचा जा सकता है कि परिवेश के भेद से कहीं-कहीं किसी शब्द के दूसरे अर्थ हो जाते हैं, जैसे जुन्हरी शब्द है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में जुन्हरी मक्का है, पश्चिम में ज्वार। ऐसी स्थिति में यह अधिक उपयोगी होगा कि हम पाठ्यपुस्तक के क्षेत्र-भेद के अनुसार अलग-अलग सेट बनाएं और जिस परिवेश में जो शब्द जिस अर्थ के लिए प्रचलित हैं, उस परिवेश में वही शब्द दें। पर गेहूं को हम गोहूं (भोजपुरी) नाम रखने की बात नहीं सोच सकते। क्योंकि गेहूं से गोहूं की प्रतीति होने में कोई खास कठिनाई नहीं होगी। इसी तरह से जुते हुए खेत को बराबर करने वाली पटिया को पटा पटेला पश्चिम में कहते हैं। पूरब में उसे 'हेंगा' कहते हैं। इन शब्दों का प्रयोग अलग-अलग क्षेत्रों में करने से अर्थ ग्रहण करने में आसानी होगी। परिवेश से तात्पर्य केवल भौतिक या सामाजिक परिवेश से नहीं है। मेरी दृष्टि में परिवेश में व्यक्ति का संस्कार भी सम्मिलित है और उसके साथ-साथ उसका कल्पना-जगत् भी। इसलिए ऐसे शब्द जो उसके मानस संस्कार के अंग बन चुके हों, वे अमूर्त्त होते हुए भी बार-बार स्मरण के अभ्यास से मूर्त्त की तरह स्पष्ट निर्भासित होते हैं। जैसे भोजपुरी-अवधी परिवेश में राम की वनयात्रा का स्मरण या ब्रज के परिवेश में कृष्ण के वृंदावन-विहार का स्मरण या पूरे भारतीय परिवेश में पवित्रता की धारा के लिए गंगा का स्मरण एक मूर्त्त विधान की सृष्टि कर चुका है और इसलिए उसके लिए ऐसा वाक्य कि :

हे गंगा मैया, एक लहर मुझे देती
मैं तुझ में समा जाती, यह बांझपन सहा नहीं जाता

परोक्ष या अलंकारी वाक्य नहीं है, यह सीधे साक्षात्कार का वाक्य है। इस संदर्भ को ध्यान में रखकर पाठों में शब्दों का चयन हो तो निश्चय ही मूल्य की अभिप्रेरणा देने में पाठ्य सामग्री सफल होगी।

अंत में पाठ्य सामग्री से अधिक महत्त्व जिस आयाम का है उसकी चर्चा करना चाहूंगा। वह आयाम है शिक्षक। जो व्यक्ति पढ़ाने जाए, वह किस प्रकार की शिक्षा

प्राप्त करके जाय। जहां तक उद्देश्य का प्रश्न है, वह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि शिक्षक मार्गदर्शक के भाव से जाएगा तो वह कुछ भी नहीं सिखा पाएगा। स्वयं मार्ग का पथिक होकर जाएगा तभी सिखा सकेगा और खुद सीख भी सकेगा। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि शिक्षक द्वारा प्रशिक्षण तो दिया ही जाय पर इसके पहले कि वह सिखाना आरंभ करे, उसके लिए अनिवार्य किया जाय कि वह दो महीने स्वयं जिस वर्ग को सिखाना है, उसके संस्कारसंपन्न और मौखिक परंपरा के धरोहरी व्यक्ति के पास बैठकर सीखे और यह जाने कि उस समाज की क्या आकांक्षा है, क्या स्वप्न है, क्या मूल्य-बोध है, उसको किस भाषा में उतारकर उससे जुड़ा हुआ है, उसकी वर्तमान परिस्थिति क्या है, जिस कार्य में वह कुशल है, उस कार्य के बारे में वह कैसे उत्साह से वर्णन करता है, आधुनिक संसार और सरकारी कार्यक्रमों की प्रतिक्रिया किस रूप में अभिव्यक्त करता है। बगैर यह सब जाने वह जमीन के बारे में जानकारी नहीं रखेगा। इसलिए उसका शिक्षण कार्य हवा में टंगा रह जाएगा। इस स्वयंप्राप्त शिक्षा के अनंतर ही व्यक्ति शिक्षामनोविज्ञान, भाषाविज्ञान आदि की शिक्षा लेने के लिए अर्ह माना जाय तो शिक्षण का कार्यक्रम कुछ ठोस जमीन पर खड़ा किया जा सकेगा, क्योंकि तब प्रशिक्षणार्थी कोरा श्रोता नहीं होगा। वह संदर्भवान् प्रश्न उठाएगा और प्रशिक्षण की पूरी प्रक्रिया को सजीव बनाएगा। प्रशिक्षण में भी एक अनुपात होना चाहिए शिक्षाशास्त्र, भाषाशास्त्र, सामान्य मानविकी और सामान्यविज्ञान में, जिससे कि प्रशिक्षणार्थी यह जान सके कि क्या और कैसे सिखाना है और भाषा और लिपि का किस तरह भावात्मक जोड़ स्थापित करना है और यह संकल्प लेकर जाय कि कम से कम समय में एक अनुभवी और अपने काम के जानकार व्यक्ति को उसके परिवेश के अनुकूल और उसकी आकांक्षा की पूर्ति में साधक ज्ञान देने का दायित्व मेरे ऊपर है, जिस ज्ञान से कि वह अपने भीतर इतना नैतिक साहस प्राप्त कर सके कि हर बेईमानी, शोषण और अन्याय के विरोध में स्पष्ट रूप से अपनी बात रख सके, उस पर बल दे सके और ऊंचे मानवीय मूल्यों के लिए अपने को उत्सर्ग करने की स्वतः उद्भूत प्रेरणा प्राप्त कर सके।

'सा विद्या या विमुक्तये।'

दलदल में फंसी उच्च शिक्षा

शिक्षा नीति में आमूल परिवर्तन की बात पैंतीस-छत्तीस वर्षों से सुन रहा हूं। यह भी देख रहा हूं कि आमूल परिवर्तन के जो नुस्खे वर्धा-योजना, शांति निकेतन, काशी विद्यापीठ के द्वारा आजमाये गए, वे भी नहीं चले या उन्हें चलाने वालों ने उन्हें चलाने में कोई उपयोगिता नहीं देखी। जिनके हाथ में नीति-परिवर्तन की क्षमता है, शासकीय और वित्तीय, दोनों प्रकार की, उन्होंने शिक्षा में अनेक प्रयोग किए। कम से कम शिक्षा के शासकीय पक्ष के ऊपर तो शायद ही कोई हुकूमत हो, जो अपना हाथ आजमाने से बाज आयी हो, पर शिक्षा ही एक ऐसा क्षेत्र है, जहां नीचे से ऊपर तक जड़ता या गतिहीनता सबसे अधिक मात्रा में है।

राजनेता कहते हैं, अध्यापक दोषी हैं। अध्यापक कहते हैं, राजनीतिक हस्तक्षेप दोषी है। छात्र कहते हैं, अध्यापक दोषी हैं। गांव का अनपढ़ या अधपढ़ अभिभावक जब अपने एम० ए०, पी-एच० डी० सुपुत्र से बात करता है और ये सुपुत्र जब जौ-गेहूं की बालियों में भेद नहीं कर पाते हैं तब वह समझ जाता है कि इतनी मूर्खता सिवाय विश्वविद्यालय-शिक्षा के और किसी भी उपाय से नहीं आ सकती है।

कोई कहता है, नैतिक मूल्यों में गिरावट आई है और इसकी जिम्मेवारी असंतुलित तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा पर है। कोई कहता है कि शिक्षा शिक्षित बेकारी में वृद्धि होने के कारण अविश्वसनीय हो गयी है, वह स्वयं अभियुक्त हो गयी है। हर एक आदमी अंशतः सही है, पर अलग-अलग सभी गलत हैं, क्योंकि शिक्षा के परिणाम के बारे में हम ज्यादा सोचते रहे हैं, शिक्षा की प्रक्रिया के बारे में बहुत कम। हमारे और हमारी राज्य सरकारों और केंद्रीय सरकार तथा उसके अभिकरणों के ढेर सारे निर्णय अति सरलीकृत निष्कर्षों पर ही अधिकतर आधृत रहे हैं।

तीन-चार दशकों से ज्यादा विश्वविद्यालय-शिक्षा से जुड़े रहने के बाद कभी-कभी बड़ी गहरी निराशा होती है। हिंदुस्तान का ही व्यक्ति एक भिन्न परिस्थिति में विद्या के क्षेत्र में, नये ज्ञान के क्षेत्र में, कीर्तिमान स्थापित करता है और वही व्यक्ति अपने घर में 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' की चाल से रुंधा रहता है। ज्ञान का अर्जन और ज्ञान का वितरण दोनों की सक्रियता किन कारणों से यहां नष्ट हो जाती है, कुछ बात समझ में नहीं आती। यह भी दिखाई पड़ता है कि औसत व्यक्ति की सूचना पहले से अधिक बढ़ी है। शिक्षा का ही इसे परिणाम कहें या आधुनिक जीवन की विवशता कहें, पर विश्वविद्यालय की शिक्षा की सांख्यिकीय वृद्धि के अनुपात में सक्रिय रूप से गतिशील शिक्षा की मात्रा में ह्रास भी हुआ है। विज्ञान की बात मैं ठीक तरह से नहीं जानता, पर मानविकी के क्षेत्र में स्पष्ट देख रहा हूं कि विशेषज्ञता के आकारहीन शिखर तो खड़े हो गये, परंतु ज्ञान की कोई किरण नहीं फूटी। छात्र अधिकतर तत्त्व की बात जानना चाहते हैं, तत्त्व अर्थात् परीक्षा का भवसिंधु पार कराने वाला प्रश्न-पत्र—परिसीमित ज्ञान। अध्यापक इस तत्त्व के निष्कर्ष की साधना करते हैं, शांति-व्यवस्था के नाम पर सरकार का आग्रह रहता है कि समय से परीक्षा हो जाये, समय से परीक्षा-फल निकल जाये, और अभिभावक का प्रयत्न रहता है कि लड़के को किसी भी प्रकार उच्च द्वितीय श्रेणी के अंक मिल जायें। पहले तो परीक्षा होते ही अभिभावक दिग्विजय का अश्व बनकर परीक्षक विजय के लिए निकल पड़ता था, अब इस दिग्विजय का केंद्रीकरण हो गया है, एक ही जगह बैठकर लोग कापियां जांचते हैं। नकल की प्रक्रिया में भी उन्नति हुई है, पहले बड़ी जहमत थी किताब ले जाओ, पाजामे पर लिखकर ले जाओ, अब ऐसी व्यवस्था संभव है कि खेचरी विद्या के प्रताप से उत्तर-पुस्तिका प्रश्न-पत्र समेत बाहर चली जाये और योगबल से पूरी की पूरी लिखकर परीक्षा-भवन में जमा हो जाये, परीक्षार्थी बस निर्विकल्प समाधि की स्थिति में बैठा रहे। एक केंद्र की कहानी सुनी, वहां पार कराई की तीन दरें तय थीं, स्वयं किताब लेकर नकल करना चाहो, २००) दो, केंद्र पर ही तुम्हें कहां से नकल करनी है, यह जानकारी प्राप्त करनी हो तो ५००) दो और यदि तुम ऐसी व्यवस्था चाहते हो कि तुम्हारा पूरा उत्तर ही कोई लिख दे तो १०००) दो। केंद्र की ख्याति से आकृष्ट होकर ८००किलोमीटर दूर के एक किसान ने अपने सुपुत्र का केंद्र यहां रखवाया। पर उसने बीच वाली दर से भुगतान किया, परिणाम यह हुआ कि कहां से नकल करनी है, यह जानकर भी सुयोग्य नौनिहाल उत्तर नहीं लिख पाए। परीक्षा देकर बड़े बौखलाये बाहर आये, पिता तो पार कराने गये ही थे, उछाह से प्रतीक्षा कर रहे थे कि किला फतह हो गया, पर सपूत से उन्होंने पूछा ही था, बेटे, सब ठीक रहा न कि सपूत ने पिता के श्रीमस्तक पर चरणदासी-वर्षा शुरू कर दी, लोग-बाग आ गये—माजरा क्या है ? सपूत ने पिता को गाली देनी शुरू की कि इतना मक्खीचूस

है कि ५००) की बचत करके इसने मेरी जिंदगी के साथ खिलवाड़ किया, जब १०००) देकर उत्तरपुस्तिका लिखवाई जा सकती थी, तब इस नालायक बाप ने मुझे इस झंझट में क्यों फंसाया कि मैं किताब देख-देखकर लिखूं, एक तो किताब मेरी पढ़ी नहीं, दूसरे लिखने का मुझे अभ्यास नहीं, अब मैं इनकी पूजा करूं ? ऐसी परिस्थिति में क्या पढ़ना और गरीब बाप का लड़का होना गुनाह नहीं है ?

शोध के क्षेत्र में तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जिंदाबाद कुछ कहना ही नहीं है। पी-एच० डी० से सभी कुछ छिप जाता है, वह सब दोषों के ऊपर ढकना है। पी-एच० डी० होने के बाद आदमी उस विशेष बिंदु का मर्मज्ञ सिद्ध बन जाता है, वह दूसरी चीज छुएगा भी नहीं, इस भय से कि कहीं उसका विशेष ज्ञान सामान्य ज्ञान से संकुचित न हो जाए। विशेषता की स्थिति यह है कि कई ऐसी प्रकार की विशेषताओं अर्थात् पी-एच० डी० प्रबंधों का वह तत्त्वात्मक निचोड़ है। एकदम काकटेल समझिए। कैंची, लेई और निर्लज्जता इन तीन साधनों से पाई हुई अद्भुत संसृष्टि है। एक विशेषज्ञ से उन्हीं के शोध प्रबंध के एक निष्कर्ष के बारे में पूछा कि "देखिए, ऐसा निष्कर्ष किसी ने निकाला है ?" विशेषज्ञ ने कहा, "किस मूर्ख ने ऐसा कहा।" मैंने कहा, "नहीं, वह मूर्ख नहीं है, विशिष्ट विद्वान् है।" वह बोले, "विद्वान् होंगे अपने घर के, मेरी दृष्टि में निपट मूर्ख हैं।" अब मैंने ग्रंथ खोलकर दिखाना ही उचित समझा, अब भी वह उसी तरह आत्म-विश्वस्त थे, बोले, "गधे ने मुझे यह दिखलाया ही नहीं और शोधप्रबंध में यह पड़ा रह गया।" कहानी का कुल तात्पर्य यह है कि शोधप्रबंध कभी-कभी अनेक गधों का भार होता है।

इन परिस्थितियों में सरकार क्या करे ? डिग्री चाहिए, उसकी कीमत नौकरी से आंक दी गयी है, योग्यता कोई एक दिन में आती है, नौकरी के बाद भी आती रहेगी। पी-एच० डी० करना न करना मानवीय प्रश्न बन गया है, जो मानवीय प्रश्न बन जाता है, उसका समाधान जल्दी नहीं हो सकता, चाहे वह मणिपुर में होने वाली हिंसा या चंबल के खोहों में बच्चों का अपहरण या ट्रेनों में डकैती, इसके समाधान सरल नहीं रह जाते। डिग्री के लिए शोध एक ऐसी ही विकराल मानवीय समस्या है। अभिभावक अपनी दुधमुंही कन्याओं को लिये-लिये, पति अपनी पत्नी लिये-लिये, अधिक मानववादी अपनी साली, अपनी सलहज या किसी और नजदीकी रिश्तेदार को लिये-लिये शोध-विषय के लिए फेरी लगाते हैं। सबको पी-एच०डी० की गर्ज है, घर की झंझटें हैं, हल्का-सा विषय चाहिए, दरेंदार विषय चाहिए, मान लीजिये एक काम प्रेमचंद के पात्र पर कभी हुआ, अब गहरे अध्ययन के नाम पर पुरुष-पात्र, स्त्री-पात्र, युवापात्र, युवतीपात्र; बालपात्र, हिंदूपात्र, मुसलमान-पात्र, शिक्षित पात्र, अशिक्षित पात्र जैसे कितने विषय निकल सकते हैं और प्रत्येक में तीन अध्याय तो जैसे के तैसे रहेंगे ही, प्रेमचंद और उनका कृतित्व, प्रेमचंद और उनका युग, कथा साहित्य में पात्रों की भूमिका, शेष अध्यायों में कुछ वर्ग बना लिये

जायेंगे, जो घूम-फिरकर ये ही होंगे, पुरुषपात्र के भेदों में शिक्षित-अशिक्षित, युवा-वृद्ध, हिंदू-मुसलमान जैसे छह भेद तो तत्काल हो गए। एक अध्याय निष्कर्ष पर जुड़ जाये। अब बार-बार वही बात दुहराई जाती है तो यह इसलिए कि आटा महीन हो, वाद बहुत बारीक हो। आप इस ढर्रे में प्रतिरोध डालें तो आप पर आक्रमण होने लगे, मानवीय प्रश्न हैं, मुझे ऐसे प्रश्न पर संवेदनशील होना ही है। पी०-एच० डी० की पूरी प्रक्रिया ऐसी हो गयी है कि यदि उसमें आप सुधार करते हैं, तो आप किसी के जीवन से खिलवाड़ करते हैं और चलने देते हैं, तो अपने ईमान को दगा देते हैं।

विशेषज्ञता का भूत अभी उतरा नहीं कि अंतर्विद्यापरक ज्ञान का हौवा खड़ा हो गया। अनेक ज्ञानों के परस्पर संबंध की बात सुनने में तो बहुत अच्छी लगती है, पर अनाड़ियों के हाथ में पड़कर अंतर्विद्यापरक अध्ययन की भी दुर्दशा शुरू हो गयी है, बिच्छू का मंत्र जाने बिना सांप के बिल में हाथ डाला जा रहा है और हर व्यक्ति जब अर्जी देकर बृहस्पति बन सकता हो, तब कौन अपनी हेठी करायेगा, सभी अपने को बृहस्पति कहते हैं। इस स्थिति में समझदार की मौत है, क्योंकि वह अपनी समझ के अनुपात में ही अपने ज्ञान की सीमा पहचानता है, यह जानता है कि जानने की इतनी सारी बातें हैं, जो मैं नहीं जानता। परिणाम यह होता है कि खोटे सिक्के असली सिक्के को बाजार से गायब कर देते हैं।

इस विषचक्र का समाधान न अकेले सरकार कर सकती है, न विश्वविद्यालय, न अध्यापक, न छात्र। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और राज्य सरकार को अध्यापक-नियुक्ति के सतही और कागजी मानदण्डों पर पुनर्विचार करना होगा।

उच्च ज्ञान का विकास आकस्मिक वरदानों से नहीं होता, वह विशाल वृक्ष की तरह अपने भीतर के रस के अनुपात में और अपने आस-पास के खुले आकाश के अनुपात में बढ़ता है। वह अपनी शाखाओं-प्रशाखाओं से बढ़ता है, आकाश-बौरों से नहीं, न परजीवी छाती के पीपलों से। जब तक उच्च शिक्षा का पूर्ण विकेंद्रीकरण नहीं होता और स्नातकोत्तर शिक्षा के विषयों का परस्पर पूरक वितरण नहीं किया जाता, प्रत्येक संस्था को अपनी दी हुई सीमा के भीतर अपनी अभिवृद्धि करने की स्वतंत्रता नहीं होती, जब तक कि कुछ परीक्षित विश्रुत विद्वानों पर विश्वास नहीं किया जाता, तब तक उच्च शिक्षा के विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए अब यह लगता है कि आज से ३० वर्ष पूर्व जो अध्यापक-नियुक्ति की प्रक्रिया थी, वह अधिक उपयुक्त थी, क्योंकि उसमें यदि कभी नियुक्ति में पक्षपात होता भी था तो कम से कम ऐसे पक्षपात की प्रक्रिया से नियुक्त व्यक्ति अपने को निरंतर योग्य बनाने की कोशिश तो करता था, इसके बिना उसको सम्मान नहीं मिल सकता था।

आज सम्मान प्राप्त करने का एकमात्र तरीका या तो गिरोहबंदी है या घटिया

स्तर की जीहुजूरी और चापलूसी। शोध, अध्यापन, परीक्षण सभी स्वांग होते जा रहे हैं, आंकड़े गुण पर हावी होते जा रहे हैं, अवसर की समानता की असंतुलित मांग ने उच्च ज्ञान के क्षेत्र से प्रतिभा और निष्ठा को निष्कासित-सा कर दिया है। नियुक्ति की जटिल समस्या के जो समाधान प्रस्तुत किये गये, चाहे बाहरी विशेषज्ञता के द्वारा परीक्षित करके, चाहे सेवा-आयोग द्वारा नियुक्त कराके, वे सभी विफल हुए। विशेषज्ञों का चयन एक लंबी सूची में से कभी-कभी वास्तविकता में एक छोटे स्तर के नौकरशाह द्वारा होता है, लाटसाहब सिर्फ सही मार देते हैं और हिंदुस्तान के लाटसाहब किस तरह के प्रख्यात विद्वानों का मनोनयन करते हैं, यह कोई जानना चाहे तो किसी भी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में प्रख्यात विद्वान् के रूप में मनोनीत कार्यपरिषदों के सदस्यों की सूची एक बार देख जायें, इंटरमीडियट कालेज के प्रिंसिपल, मामूली चार साल के लेक्चरर, कोरे नौकरशाह, बिना मुवक्किल के वकील, एकदम नये काढ़े राजनेता, सभी प्रकार के नमूने मिल जायेंगे, ये सभी उच्च शिक्षा के नियामक हैं ये ही चुने हुए विशेषज्ञ हैं। पूरी व्यवस्था अपनी विश्वसनीयता खोती जा रही है।

अब क्या अमेरिकी या यूरोपीय पद्धति अपनायी जाये, जिसमें दो तरह से नियुक्तियां होती हैं, एक शोध सहायक के स्तर से शुरू होती है और दूसरी सीधी उच्च पदों पर। पहले प्रकार में सीढ़ी-दर-सीढ़ी परिश्रम और योग्यता के अनुसार पदोन्नयन होता जाता है, यह नियुक्ति प्रारंभ में किसी वरिष्ठ अध्यापक या वरिष्ठ अध्यापकों की परिषद् द्वारा होती है, इसमें निरंतर आदमी कसौटी पर कसा जाता है, यहां तक कि अध्यापन से छात्र कितने प्रभावित और संतुष्ट हैं, यह भी परिमापित किया जाता है। पर यह व्यवस्था वहां तो ठीक है, क्योंकि सेवा की असुरक्षा की समस्या विशेष रूप से इस स्तर पर उतनी भयंकर नहीं है, जितनी हमारे यहां। हमारी परिस्थिति में परीक्षण की व्यवस्था रहनी तो चाहिए, पर यह लचीली होनी चाहिए। यहां इतने कम्प्यूटर नहीं, न इतने वस्तुपरक परीक्षणों के मानक ही परिशोधित किये जा सके हैं। प्रारंभ में जरूर कड़ी जांच होनी चाहिए, अभिव्यक्ति-कौशल, प्रतिपादन, समझदारी, अध्ययन में रुचि, निष्ठा और शोध की क्षमता की। कागजी योग्यता के सर्वेक्षण और पंद्रह-बीस मिनट के वार्तालाप से जांच पूरी नहीं होती। जांच की इस लंबी प्रक्रिया में बाहर के आदमियों के यात्रा-व्यय पर न खर्च करके भीतर के विभागीय अध्यापक-परिषद् को निर्णायक बनाया जा सकता है और विस्तृत जांच की जा सकती है, प्रत्येक क्षमता का; विषय-ज्ञान, विषय-प्रतिपादन, विषय-अभिरुचि, संबद्ध विषयों के प्रति सजगता, शोध-योग्यता, प्रकाशित कार्य की गुणवत्ता और सबसे अधिक अध्यापकोचित उच्च चरित्र, इन सभी में खरा उतरने पर ही नियुक्ति की जानी चाहिए। नियुक्त होने पर परीक्षण-अवधि प्रारंभ में लंबी रखनी चाहिए और समय-समय पर कार्य की

समीक्षा होनी चाहिए, पर यह समीक्षा एक व्यक्ति द्वारा न हो, वरिष्ठ प्राध्यापकों की समिति द्वारा हो। प्रकाशित कार्य की समीक्षा बाहर के विद्वानों से कराई जा सकती है। नियुक्ति की संपुष्टि होने पर अध्यापक को पूर्ण विश्वास देना चाहिए। साथ ही जितने भी प्रकार के छोटे प्रलोभन हैं, १००)-२००) ऊपर का मानदेय देकर प्रशासनिक जिम्मेवारी देने का विधान है, उसमें मानदेय हटा देना चाहिए। प्रशासनिक या परीक्षा-कार्य के लिए भी प्रत्येक संपुष्ट अध्यापक को एक नियत रकम प्रतिवर्ष दी जाये और परीक्षण उसके कर्त्तव्य का अंग माना जाये, प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षा की जाये कि विश्वविद्यालय संचालन में अपना दायित्व अनुभव करे।

इसके साथ ही नये ज्ञान के विस्तार से परिचित होना प्रत्येक अध्यापक के लिए आवश्यक हो, ज्ञानार्जन में सीनियर-जूनियर का भेद न हो, ऐसे आयोजन निरंतर किये जाने चाहिएं। निष्प्राण सेमिनारों की अपेक्षा विषय से संबद्ध नये ज्ञान की सजगता लाने वाले पुनर्नवीकरण पाठ्यक्रम अधिक उपयोगी होंगे।

इन सुझावों की खामखयाली में मैं बहा जा रहा हूं। समस्या का असली समाधान तो उच्च शिक्षा का विकेंद्रीकरण और डिग्रीकरण से उसे मुक्त करना है। भारत में प्राचीनकाल में शिक्षा व्यक्ति-गुण का पूर्ण विकास थी, गुरु केवल एक शक्ति-चालक एजेंट का काम करता था। सामूहिक परीक्षाओं का स्वांग आज उच्च शिक्षा के गले में फांसी बन गया है। कोई जोड़ने बैठे तो विश्वविद्यालय-प्रशासन का अधिकांश समय परीक्षा और प्रवेश की प्रक्रिया में नष्ट होता है। कहीं-कहीं तो प्रवेश और परीक्षा की तिथियों में अंतर दो महीने का भी नहीं रह पाता। दोनों प्रक्रियाएं तात्कालिक मांगों के दबाव में गतिशील रहती हैं, उनकी अपनी कोई सोद्देश्यता नहीं होती। सामूहिक परीक्षा एकदम समाप्त करने का निर्णय क्यों नहीं लिया जाता? इसके पीछे निहित स्वार्थ है—पाठ्य-पुस्तक-व्यवसाय, अध्यापक (जो वेतन से अधिक महत्त्व ऊपर की आमदनी को देते हैं), बाबू वर्ग (जो ईमानदार हुआ तो परीक्षा के नाम पर ओवरटाइम भत्ता पाता है, बेईमान हुआ तो डिग्रियां बेचता है) और अधिकारी (जो आश्रयदाता और भय-दाता बने रहने के लिए वर्तमान परीक्षातंत्र को जारी रखे हुए हैं)। यदि अध्यापक-स्तर पर परीक्षा होती चले? तो न फार्मों की जांच, न उत्तर-पुस्तकों के प्रेषण और परीक्षाफल के आकलन, पुनर्मूल्यांकन और नकल के लिए उड़नदस्ता भेजना आवश्यक रह जाये। अधिक समय पढ़ने-पढ़ाने के लिए मिले।

लोग कहते हैं कि परीक्षाप्रणाली बेईमानी रोकने के लिए आवश्यक है, पर वास्तविकता यह है कि इसकी छाया में सबसे निकृष्ट कोटि की बेईमानी पनप रही है। इसी प्रकार शोध की प्रक्रिया को डिग्री के बंधन से मुक्त करना चाहिए। शोध-योग्यता की व्यक्तिगत जांच की जानी चाहिए और कई स्तरों पर जांच की जानी

चाहिए। प्रत्येक स्तर में योग्यता-प्राप्त होने पर प्रमाण-पत्र दे देना चाहिए और महत्त्व अलग-अलग शोध-निबंधों या शोध-रिपोर्टों का अधिक होना चाहिए। सीधे विषय देने की अपेक्षा छात्र को छूट देनी चाहिए कि पहले तैयारी करे, तब विषय चुने और रूपरेखा तब प्रस्तुत करे जब उस विषय पर ४-५ महीने गहन अध्ययन कर चुका हो। शोध निर्देशन की प्रक्रिया में आमूलचूल परिवर्तन अपेक्षित है, जिसके स्वयं के शोधकार्य का स्तर ऊंचा न प्रमाणित हो चुका हो, उसे निर्देशक नहीं बनाना चाहिए। निर्देशक होने के लिए अध्यापक होने की अपेक्षा विद्याव्यसनी होना अधिक आवश्यक है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज अध्यापक नहीं थे, लाइब्रेरियन थे, न स्व० परशुराम चतुर्वेदी अध्यापक थे, न पांडुरंग वा० काणे ही, पर ये सभी शोधकार्य में निरंतर निरत थे। विषय के अनुसार निर्देशक का निर्धारण शोध-समिति द्वारा किया जाना चाहिए और विश्वविद्यालयों के शोधकार्य की पुनरावृत्ति रोकने के लिए प्रभावी कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए। वह कार्य एक केंद्रीय विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग नहीं कर सकता। प्रत्येक विषय के लिए एक समिति होनी चाहिये, जो पुनरावृत्ति पर कड़ी नजर रखे। साथ ही अलग-अलग क्षेत्रों के लिए विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग स्थापित होने चाहिए, जिनके संकायों के अनुसार प्रखंड होने चाहिएं। इस प्रकार की संयोजन संस्थाओं का उद्देश्य एक-रूपता लाना न हो, बल्कि अनेकांत दृष्टि से ज्ञान का विकास हो, इनकी मुख्य भूमिका केवल पुनरावृत्त और निरंकुशता पर अंकुश लगाने की हो। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अवकाशप्राप्त अध्यापकों की सेवा के विनियोग के नाम पर उन्हें अर्थलोभ में फेरी लगाने के लिए द्वार बंद कर देना चाहिए। कोई अध्यापक ५०-५२ वर्ष तक यदि उत्तम कीर्तिमान निरंतर कायम रखता है, तो उसे उसी समय ६० वर्ष के बजाय ६५ वर्ष तक के लिए नियुक्त कर दिया जाए, बशर्ते कि वह स्वीकार कर ले कि ५५ वर्ष के बाद विभाग की अध्यक्षता या कलासंकाय की अध्यक्षता नहीं करूंगा। इससे अध्यापक के सम्मान की रक्षा होगी और योग्य अध्यापक की सेवा कुछ अधिक समय तक सुलभ रहेगी। यह न संभव हो तो बिना किसी मानदेय के २५ वर्ष तक निरंतर अच्छा कीर्तिमान रखने वाले अध्यापक को सम्मानित विद्वान् के रूप में अभिज्ञात करके उनके लिए ऐसी सुविधाएं प्रदान करनी चाहिएं कि अपनी साधना निर्बाध रूप से चला सकें। प्रो० बी० बी० मिराशी ने एक पत्र भेजा। उनके हाथ कांपते हैं, उन्होंने लिफाफे पर मुश्किल से पता लिखा। उन्हें यदि सहायक उपलब्ध किया जाता तो कितनी बड़ी बात होती ? समाज और सरकार को इस प्रकार की सुविधा और सम्मान की बात सोचनी चाहिए, आर्थिक पुरस्कार या पदवी-सम्मान तो शुद्ध सम्मान है ही नहीं। शुद्ध सम्मान देना है तो विनम्र होकर ही दिया जा सकता है।

मेरा यह सब सोचना निरर्थक है, जब समाज मूल्यों की चिंता से किनारा

कसने लगता है, तब वह मूल्यों को और मूल्यों को जीने वाले साधकों को अस्त्र मात्र मानता है, उन्हें अपना साधन बनाना चाहता है, उनकी प्रखरता से अपने को आविद्ध करने से डरता है, कहीं वह असुरक्षित न हो जाए। मुझे इसीलिए कोई भी आशा नहीं दीखती कि उच्च शिक्षा का उद्धार निकट भविष्य में होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि विडंबनाओं के गर्त्त अभी और गहरे होंगे, अध्यापक और छात्रों के तनाव और बढ़ेंगे, कमीशनों, कमेटियों और सम्मेलनों में चिंता व्यक्त करके कर्त्तव्य की इतिश्री होती रहेगी और इन सबके बीच लौ कांपती रहेगी, शायद बुझ जायेगी, तभी होश आयेगा।

जनमानस में राम

रामकथा का प्रसार भारत और एशिया के अन्य देशों में जिन कारणों से हुआ, उनमें दो बहुत प्रमुख लगते हैं, एक तो रामचरित की उदात्त मानवीयता जिसके अंतर्गत एक साथ कई बातें आती हैं, पिता की प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए कठिन वनवास का अंगीकार, एकपत्नीव्रत, ऋषियों के प्रति आदर और श्रद्धा की भावना, उनकी रक्षा के लिए अपने बूते पर घोर संकल्प लेने की क्षमता, स्नेहभरा भायप, निषाद-कोल-किरातों के साथ घनी आत्मीयता, जंगली ऋक्ष और वानर जातियों में आत्मविश्वास पैदा करके उनकी सहायता से आसुरी शक्तियों को पराजित करने वाला पराक्रम, शरणागत के लिए दया के स्थान पर मैत्री की भावना, वीरता के साथ-साथ अत्यधिक सौम्यता और निरभिमानता और कर्तव्य की कठोरता के साथ-साथ अद्‌भुत मृदुता। इन गुणों के प्रतिमान के रूप में राम का चरित्र बड़ा ही आकर्षक बन गया है। उनसे संबद्ध कथा के मूल ढांचे को रखते हुए अनेक रूपांतर हो गये हैं, जैनों और बौद्धों ने रामकथा का एक रूप लिया, जिसमें उनके विवेक और धैर्य पर अधिक बल है, प्रत्येक प्रदेश और क्षेत्र में रामकथा में नयी-नयी रंगतें आयीं, पर एक बात सब जगह एक-सी है, राम ने पिता के सत्य का निर्वाह करने के लिए वनवास स्वीकारा और भरत के लाख मनाने पर भी चौदह वर्ष की अवधि तक अयोध्या आने के लिए सहमत नहीं हुए। एक प्रकार से वनवासी राम ही अपने लोकरंजक और लोकरक्षक रूप से जनभावना के आराध्य बने।

राम से पहले जटाजूट बांधने वाले तपस्वी तो बहुत हुए और किसी विशेष उद्देश्य के लिए तप करने वाले राजा भी बहुत हुए, उनको भी भारतीय जनता ने सम्मान दिया क्योंकि सुख का त्याग करना भारतीय जीवन में एक महनीय जीवन-मूल्य रहा है और दूसरों को सुख देने के लिए कष्टपूर्ण साधना के जीवन का वरण तो और बड़ा जीवनमूल्य माना जाता रहा है, एक प्रकार से वही सबसे बड़ा पुरुषार्थ,

मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता रहा है। परंतु वनवासी राम की एक अलग धज है। वे जटाजूट बांधकर भी, वन का अभावों और कष्टों से भरा जीवन जीकर भी धनुर्धर हैं। वे कोलों-किरातों के बराबर होकर भी असहाय और निरु-

एक विशाल मनोराज्य के राजा हैं। पिता के सत्य के लिए तप का वरण और दुर्बलों की रक्षा के लिए शस्त्र का वरण ये दोनों बात एक साथ पहले किसी एक व्यक्ति में नहीं दिखी, यह सबसे पहले राम में ही दिखी। उनके बाद युधिष्ठिर में।

सत्य के धुरंधर होते हुए भी युधिष्ठिर राम न हो सके, क्योंकि वन में रहते हुए उन्होंने कोई रावण नहीं मारा या उन्हें कोई मारने को रावण नहीं मिला। वनवासी राम ने धर्म के रथ पर सवार होकर विजय यात्रा की, यही बात लोक चेतना में ऐसी बसी कि वे देवताओं से बड़े हो गये। देवता असुरों से डरते थे, पर राम नहीं, राम दूसरे आदमियों से भिन्न सिर्फ इस माने में थे कि दूसरे आदमी विपत्ति में देवता की गुहार लगाते हैं और राम की गुहार देवता लगाते हैं। हां, राम स्वयं अपने साथ लेते हैं ऐसे मनुष्यों को जो अपने को दीन और हीन माने बैठे हैं। इसीलिए राम से साधारण आदमी का इतना गहरा और इतने लंबे अरसे का लगाव है।

अकेले राम के साथ जुड़ी हुई इतनी लोककथाएं, इतने लोकगीत हैं कि केवल हिंदी क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं की ही पूरी सामग्री का संकलन किया जाय तो वह कम से कम १०-१२ खंड में छपे। प्रायः सभी संस्कार-गीतों में जन्म से लेकर विवाह तक राम ही नवजात शिशु के रूप में, राम ही वटु या बरुआ के रूप में, राम ही वर के रूप में और वधू या विवाह के लिए प्रस्तुत हो रही कन्या सीता के रूप में लोकदृष्टि से निरखे जाते हैं। मेले के गीतों में और तीर्थयात्रा के गीतों में तो राम की वनयात्रा ही मुख्य वर्ण्य विषय है। स्त्री के शोकगीत विरल हैं पर उनमें भी भाव यही है 'मेरे राम मुझे अकेले छोड़ गये, मैं कैसे जिऊं, इनके बिना 'अजोधिया' सूनी है।' मृत्यु के समय तो रामनाम से अधिक काम्य कोई नाम नहीं है, जीवन का समग्र सत्य राम नाम में ही सिमटा रहता है। ऋतुगीतों में बारह-मासों, कजरियों, होलियों और चैतों में भी राम बसे हुए हैं। राम लोकजीवन के पूरे वृत्त बने हुए हैं। साहित्य में रामकथा के नायक हों, इतिहासपुरुष हों, अवतार हों, साक्षात्परब्रह्म हों, जो भी हों, पर लोकसाहित्य में राम कभी भी व्यतीत नहीं होते। वे ऋतुचक्र के साथ-साथ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संचरण करते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि लोकमानस में यह क्रम वाल्मीकि रामायण से या किसी और रामायण से मेल खाये ही, लोकमानस में राम को अपने बीच निरंतर पाते रहने की अतृप्य आकांक्षा रहती है, वही उसकी सहज कंठ ध्वनि में भी मुखरित होती रहती है। बारहमासे का एक गीत है, जो मामूली हेर-फेर के

साथ अवधी, भोजपुरी औथ बाघेली कई जनपदीय भाषाओं में गाया जाना है, इस रूप में अवधारणा करता है कि—

चैत से ही वर्ष शुरू होता है और चैत में अयोध्या में राम जन्म लेते हैं। कौशल्या सारा घर चंदन से लिपवाती हैं, मोतियों से चौक पुराती हैं। बैसाख में यह ऋतु जहर हो जाती है और जैसे पानी के बिना मछली तड़पती वैसे ही कैकेयी कौशल्या की गति कर देती है अर्थात् राम को वन भेजने का वर मांगती है। जेठ में लू चलने लगती है और राम, लखन और सीता वन में तपते हैं, असाढ़ में घटा छाती है, पपीहा पुकारता है। अयोध्या में कौशल्या बिलखती है, लक्ष्मण, सीता और राम भीग रहे हैं। सावन-भादों की झड़ी में यही चिंता लगी रहती है कि मेरे लड़के कहां होंगे। कुआर में चिंता लगी रहती है कि राम घर होते तो मैं भी दान-दक्षिणा देती, धर्म का उत्साह होता। कातिक आते ही लगता है, घर-घर दीप जल रहा है पर हमारी अयोध्या ही अंधियारी हो गयी है। अगहन का महीना आता है। इसी महीने में सीता का विवाह हुआ था। सोने के तारों की साड़ी सीता ने पहनी थी। पूस की रात तलवार के धार की तरह तीखी हो जाती है और याद आती है—कुश के आसन पर राम कैसे सोये होंगे? माघ में राम के बिना जीना कठिन लगता है। भरत पादुका पर चँवर डुलाते रहते हैं, फागुन में अबीर घोलते हैं और चिंता करते हैं कि राम घर नहीं हैं, अबीर किस पर छोड़ी जाय?

चैत अयोध्या में जनमे राम। चंदन सो लिपवायउं धाम।
सुवरन कलस धरे भरवाय। धरे घटमंडल।
पठाये अरी बन कैकेयी। बन बालक मेरे ॥१॥
बैसाखे कत भीषम घाम। पवन चलत जैसें बरसत आग।
जैसे जल बिनु तड़पत मीन। पियासे होइहैं लछमन राम।
कौन बिरिछ तरै। ये ही दुख दीने कैकेयी। पठाये०॥२॥
जेठ मास लू लागत अंग। राम लखन अरु सीता संग।
हरि के चरण जैसे कमल समान। धधकै धरती औ असमान।
चलैं पगु कैसे ॥पठाये०॥३॥
असाढ़ मास घन गरजैं घोर। चहूक विहंगम कूकत मोर।
कलपै कौशिल्या अवधपुर धाम। बन भीजैं मेरे लछमन राम।
काऊ बिरिछ तरे ॥पठाये०॥४॥
सावन में सर साधें तीर। मोरन गूंजत फिरत भुजंग।
ठाढ़ी कौशिल्या अवधपुर धाम। बन भीजैं मेरे लछमन राम ॥
झमकि झरि लागी ॥पठाये०॥५॥
बड़ी-बड़ी बुंदिया बरसत नीर। भीजत ह्वै हैं श्री रघुबीर।
रैनि अंधियारी ॥पठाये०॥६॥

आइल ए सखि मास कुवार। धर्म करैं सगरो संसार।
आज जो होते अयोध्या में लछमन राम। न्यौतती ब्राह्मन देती दान।
थार भर मोती। पठाये० ॥७॥
कातिक मास सखि आई दिवारी। घर दिवला लेसहिं नर-नारी।
मेरी अयोध्या पड़ी अँधियारी। सब सखियाँ मिलि गंगा नहावैं।
करौ मैं कैसे। पठाये० ॥८॥
अगहन कुआरी करती सिंगार। खियाती बरसत सोने के तार।
पाट पटम्बर कुलही के मान। माथे वीरा चड़े कलीदार।
गले वैजंती। पठाये०॥९॥
जिन ओढ़ना मोरे लछमन राम। कलपैं कौसल्या अवधपुर धाम।
कैसे करैं मो जनम जरी के। पठाये०॥१०॥
मास-मास रितु होत वसंत। सुत विदेस तन तज गये कंत।
बैठे भरत जी ढोरैं चोर। आजु जो होते मेरे लछमन राम।
जनम के जोड़ी। पठाये०॥११॥
फागुन रंग चले सब कोई। ऐसी रितु में गवायौं रोई।
बैठे भरत जी छोरैं अबीर। केहि पर छिरकौं बिन रघुवीर।
दीन्ह दुख कैकेयी। पठाये०॥१२॥

एक-दूसरे बारहमासे में क्रम दूसरे प्रकार का है।

चैत में वनवास, बैसाख में कठिन घाम, जेठ में लक्ष्मण को शक्ति लगना, आषाढ़ में हनुमान का धौलागिरि को प्रस्थान, सावन में पहुंचना, भादों में अंधेरे में बूढ़ी दिखायी न देना, कुआर में राम का लक्ष्मण को गोद में लेकर विलंब करना, कार्तिक में आशा लगाकर शिव को पूजना, अगहन में हनुमान का लौटना, पूस में लक्ष्मण का जी उठना, माघ में सीता के लिए उदास होना और फागुन में रावण को मारकर सीता का उद्धार :

चइत मास घर छूटे रघुपति के, वन में विपति परी।
काली नदिया पार उतर गइले, तपसी भेस धरी॥१॥
घाम लूक बइसाख में लागत, देह से नीर चली।
सीता हरन भइल, पिता मरन भइल, विपति पे विपति परी ॥२॥
जेठ बान लागल लछुमन के, मुरछित भुइयाँ परी।
बैंदा सुखेन बतउलें सजीवन, तब लछुमन उबरी ॥३॥
राम सुमिर हनुमान जी गइले, धवलागिरि कइले पयान।
तब तक चढ़ले मास असाढ़ा, साम घटा घिर आन ॥४॥
सावन मास सुहावन सजनी, सजनी सूझि ना परी।
बादर गरजै बिजुरी चमकै, महाबीर जी कौंध भरी ॥५॥

भादों रैन भयावन सजनी, तनिको ना सूझ परी।
चहुँ अँधियारी दिशा नाहीं सूझे, राम सुमिर के वीर चली ॥६॥
कुआर हाल बेहाल लछुमन के, गोद में लेके बिलखाई।
वानर भालू के कवन ठेकाना, फल पर गइले लोभाई ॥७॥
मास कातिक में आसा लागल, संजीवन अइहें तनकाल।
राम रमेसर पूजेले पूजेली विरहिन बात ॥८॥
अगहन मास अति गहन बाटे, जानत सकल संसार।
ओही समय लवट अइले वीर जी, अपना सिखा पर लेके पहार ॥९॥
पूस मास जठमर पड़त बा, जस कुठार के छाई।
पीसि के बूटी दिहले लछिमन के, उठले बीर अँगिड़ाई ॥१०॥
माघ मास में लागेला पंचमी, सखी लोग करेला सिंगार।
आपन बदनियाँ निहारेले राम जी, सीता बिना भइले उदास ॥११॥
फागुन में रंग होरी मचेला, उड़ेला गुलाल अबीर।
रावन मारि के सीता उबारे, पार उतरि गइले रामजी बीर ॥१२॥

इस प्रकार पहले वाले बारहमासे में कौशल्या का राम के लिए निरंतर चिंता और दूसरे वाले बारहमासे में राम के वनवास को एक ऋतु-चक्र के रूप में देखने का प्रयत्न वर्णित है। इन दोनों में राम आदमी की माया-ममता के केन्द्र में हैं और इसीलिए राम के लिए चिंता अपने सगे के लिए चिंता है। राम के वनवास का दुःख अपने ही वनवास का दुःख है। इस प्रकार का भाव लोक-मानस में अंकुरित होता रहे, तभी वहां ऋतु का मंगल भी मना सकता है, राम के दुःख में सहभागी बन करके ही आदमी राम के लोक-मंगलमय राज्य का अपने को नागरिक बना सकता है। यह भाव लोक-मानस में यहां तक व्याप्त है कि जहां राम निराकार हो गये हैं, वहां भी राम के 'सुमिरन' के बिना और राम के 'टेक' के बिना कोई गीत आगे नहीं बढ़ता।

जन्म के समय गाये जाने वाले गीतों में राम से संबद्ध कई कथानक आते हैं—एक तो सीधे-सादे राम के जन्म के पहले कौशल्या और दशरथ के तप का वर्णन, योगी की भभूत से राम का जन्म लेना और जन्म लेने पर चारों ओर बधावा बजना। यह कथानक प्रायः सभी क्षेत्रों में सोहर गीतों में उतारकर गाया जाता है और पुत्र के जन्म का मंगल तभी चरितार्थ माना जाता है जबकि उसके जन्म के साथ-साथ राम के प्रादुर्भाव की संभावना भी जगायी जाय। जोगी की भभूत से जन्म लेने वाले व्यक्ति की नियति ही बन-बन जोगी बनकर घूमने की होती है। शायद इसीलिए तो नहीं रामसंबंधी कुछ दूसरे गीतों में राम के वनवास के ही चित्र हैं :

बहुते सुघरी राम जनमे त रोहिनी नखत में।

राजा बारह बरिस कै होइहें त बन के सिधरिहइँ ।।
बभना के पूत जो न होतेउ ते जियरा मरवउतेउँ ।
मोर एतनी तपसिया कै राम त बन के सुनायवउ ।।
बाउर हो रानी कोसिला किन बउराई ।
रानी धीरे-धीरे पटना लुटावऊ राम बन जइहइँ ।।
बाउर हो राजा दशरथ किन बौरावा
राजा छुटल बँझिनिया कै नाम भले बन जइहैं ।।

इस गीत में ज्योतिषी ने कहा, राम बारह बरस के होंगे तो बन चले जायेंगे। दशरथ को बुरा लगता है और कहते हैं ब्राह्मण न होते तो जिन्दा गड़वा देता। इतनी तपस्या के राम और वन जाने को कहते हो! दशरथ कहते हैं, कौशल्या, पागल मत बनो, धन पटना लुटाओ, राम वन चले जायेंगे। कौशल्या कहती हैं, पागल हो, यह नहीं कहते बांझिन बनने का नाम छूटा, राम भले ही वन चले जायेंगे। कुछ और गीत हैं जिनमें पुत्र के जन्म के समय वन-यात्रा का ही स्मरण किया जाता है। मानो साधारण आदमी अपने पुत्र से उसी पौरुष की आकांक्षा कर रहा हो, मनुष्य की उसी नियति को सबसे बड़ी नियति मान रहा हो, जब वह निर्वासित होकर, बेघर होकर विश्व को अपना घर बना लेता है और विश्व का अधिपति बन जाता है। हां, यह आवश्यक है, उसके साथ उसकी शक्ति भी हो। राम बड़े कौशल से सीता को अपने साथ ले जाते हैं—मां, हम तो मधुवन चले; सीता को कैसे रखोगी? मां कहती है, आंगन में कुआँ खोदवाऊंगी, सीता को आंगन में ही नहवाऊंगी, खांड़ और चिरौंजी खिलाऊंगी और हृदय के बीच रखूंगी। राम सीता से कहते हैं, तुम हमारे साथ मत चलो, बहुत कष्ट पावोगी। लेकिन सीता कहती हैं—भूख-प्यास सह लूंगी, जेठ की दुपहरी भी सह लूंगी, हे राम! तुम्हें देखकर मैं सब सुख पाऊंगी।

राम जे चलेनि मधुवन के माई से अरज करइँ ।
माई हम तो जाबइँ मधुवन के सितै कइसे रखबिउ ।।१।।
आँगन कुइयाँ खनइबइ सितहिं नहवइबइ ।
बेटा खाँड़ चिरौंजी खिअइबइ हिरदइया बीच रखबइ ।।२।।
राम जे चले मधुबन के सीता जे गोहन लागी ।
सीता हमरे संग जनि चलहु बहुत दुख पउबिउ ।।३।।
सहबइ मैं भुखिया पियसिया जेठ दुपहरिया ।
पिया देखि हम तोहरी सुरतिया सकल सुख पउबइ ।।४।।

एक दूसरे गीत में कैकेयी ने कभी दशरथ के पैर में गड़े कांटे को निकालकर उनकी वेदना हरी है और उसके लिए एक पुरस्कार मांग रखा है। समय पाकर जब वह पुरस्कार मांगती है कि राम-लक्ष्मण वन जायें और भरत राज्य विलसें

तो दशरथ कहते हैं तुमने पुरस्कार तो मांगा, पर तुम्हें मांगना नहीं आया। तुमने मेरे प्राण का आधार मांग लिया और कौशल्या का सहारा मांग लिया। जो राम चित्त से नहीं बिसरे, पलक से नहीं उतरे, वे राम वन चले जायेंगे तो मन को कैसे समझाऊंगा।

राजा गइले कदलिया के वन में त कांट गड़ि गइलिनि।
ककही जे कँटवा निकरीं बेदन हरि लिहलीं ।।
राजा जवन मँगन हम मँगली तवन रउरे देहीं।
राजा राम लछन वन जायँ भरत राज बेलसैं ।।
मँगही के ककही तूँ मँगलू माँगन नहीं जनलू।
ककही माँगैलू मोरे प्रान अधार कोसिल्ला के ओठगन ।।
जे राम चित से न उतरें पलक से न बिसरे।
से राम बने चलि जैहैं त कैसे जिय बोधब ।।

इस गीत में कांटे का अभिप्राय एक नयी उद्भावना है, एक कांटा निकालकर बदले में दूसरा कांटा चुभोना, ऐसा कांटा जो निकल न सके, एक बड़ी ही मर्म-स्पर्शी अभिव्यंजना है। इस गीत का उद्देश्य राम की उपस्थिति की तीव्र आकांक्षा जगाना ही लगता है।

तीसरे प्रकार के जन्म-गीत और भी करुण हैं, उनमें भी एक तो वे हैं जो हरिणी वाली कथा से संबद्ध है और दूसरे हैं जो सीता के वनवास और सीता के पुत्रों के वन में जन्म से संबंधित हैं। हरिणी वाले गीतों के कथानक अधिकांश करुणांत हैं। शिकारी हरिण का शिकार खेलने जाते हैं, हरिणी कौशल्या से आकर विनती करती है कि हरिण को छोड़ दो, मुझे मार डालो। रानी कहती हैं कि हरिन का मांस अधिक स्वादिष्ट होता है, अपने घर जाओ हरिण मारा ही जायेगा। हरिणी विनती करती है, उसे मारती हो तो मारो, कम से कम उसका चमड़ा ही मुझे दे दो, मैं वही लेकर संतोष करूंगी। पर रानी कहती हैं, मैं उससे खंजड़ी मढ़वाऊंगी, राम उससे खेलेंगे। जब-जब खंजड़ी बजती है तो उसकी आवाज सुनकर उसी पलाश के नीचे हरिण की याद में हरिणी आंसू बहाती है। इसी गीत के कुछ संस्करणों में हरिणी कौशल्या को शाप देती है कि तुम्हें भी ऐसा ही दुःसह पति-वियोग होगा। दूसरे संस्करणों में हरिणी की विनती से कौशल्या सोचती हैं और हरिण को अभयदान देती हैं, यही नहीं हरिणी को पूरी अयोध्या का राज देती हैं।

इसी प्रकार एक गीत में सीता के गर्भवती होने की कथा है और सीता के लिए हरिण का शिकार होने गया है और हरिणी ने विनती की है—उसने सीता के पुत्र-प्रसव की अगवड़ खुशी में अभयदान मांगा है और उसे अभयदान मिला है :

दशरथ बगिया लगवले लखन आये ढूँढ़ले हो।
प्यारे रघुबर धनिया गरभ से हरिनवाँ मरवावेले हो।
कर जोड़ी हरिनी अरज करइ सुन कोसिल्ला रानी हो।
रानी सीता के होइहैं नंदलाल हमहीं कुछ दीहब हो।।
सोनवाँ मढ़इबो दुहूँ सिंगवा भोजनवाँ तिलचाउर हो।
हरिनी भुगतहुँ अजोधिया क राजा अभै बन बिचरहुँ हो।।

परंतु अधिकांश सोहरों में हरिणी वाला गीत करुणांत ही है। हरिण का वध राम के लिए बराबर अमंगलकारक ही सिद्ध होता है। कदाचित् उसी से प्रेरित होकर यह अभिप्राय लोक-साहित्य में आया। एक जोड़े के बिछुड़ने से पूरी राम-कथा जिस प्रकार बिछुड़न की कथा बन जाती है और किस प्रकार एक शोक की चोट अनेक आघातों की कड़ी बन जाती है, किस प्रकार मनुष्य के कर्म-फल-भोग को राम स्वीकार करके ही मनुष्य के रूप में इंगित बनते है, क्रौंच-वध से व्यथित वाल्मीकि का शाप किस प्रकार लोक-भाषा में आकर हरिणी का शाप बन जाता है, इन सभी सूत्रों के अन्वेषण के लिए हरिणी वाले सोहर गीत बहुत ही महत्त्व-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। पुत्र-जन्म के समय ऐसे करुणांत गीत गाने का मतलब और तो नहीं समझ में आता, इतना ही समझ में आता है कि आनंद का क्षण भी एक चिंता है कि कहीं दूसरों को दुःख देकर तो यह आनंद नहीं है और एक चेतावनी भी है कि इस आनंद में इतना न खो जाओ कि यह दुःखमय संसार आंखों से ओझल हो जाय। करुण रस की उद्भावना से द्रुत चित्त में ही जन-मंगल की भावना आती है तो वह तपकर, गलकर शुद्ध होकर आती है। एक और अभिप्राय हो सकता है, प्रसव-वेदना के अनंतर पुत्रप्राप्ति का सुख-दुःख को सार्थक बना देता है और तब दुःख का स्मरण तीव्रता के साथ होना मंगलकारी होता है।

सीता के पुत्र-प्रसव से संबद्ध सोहर गीत भी इसी के दूसरे प्रकार के निदर्शन हैं। सुनसान वन में सीता को पुत्र होने वाला है। वेदना होती है, सोचती हैं—कौन मेरे पास बैठेगा, कौन मेरे केश-पाश ढीले करेगा, कौन मेरे साथ रात भर जगेगा और कौन नार काटेगा। इतने में वन में एक तपसी आती है और कहती है, मैं यह सब करूंगी।

को मोरे आगे-पीछे बइठिहै तो बिपती गँवाइब हो।
वन में से निकरी बन तपसिन सितहिं समुझावइ हो।
सीता हम तोरे पंजरा बइठबइ त बिपति गँवाइब हो।।

इसी प्रकार के एक दूसरे गीत में सीता के पास कोई नहीं आता और जंगल की लकड़ी अपने ही बीनकर सीता आग जलाती हैं और उसी के उजाले में अपनी जुड़वां संतान का मुख देखती हैं :

कुस कै ओढ़न कुस डासन बन फल भोजन।
सीता लकड़ी कै कइलीं अंजोर संतति मुख देखेलीं॥

एक तीसरे गीत में कहानी और आगे बढ़ती है, जंगल में ही एक नाई बुलाया जाता है और नाई पुत्र-जन्म का शुभ समाचार अयोध्या सुनाने जाता है। सीता कहती हैं :

पहला रोचन राजा दशरथ को, दूसरा कौशल्या रानी को, तीसरा देवर लक्ष्मण को, पर चौथा हाथ में लिए रहना, प्रिय को न देना। राम सबेरे कदम्ब के वृक्ष के नीचे दातून तोड़ रहे हैं और लक्ष्मण को प्रसन्न देखकर पूछते हैं कि किसका रोचन तुमने पाया कि तुम्हारा माथा दमक रहा है। प्रसन्नता से तुम्हारा मुख खिल उठा है।

लक्ष्मण कहते हैं, सीता देवी को, जो मेरी भाभी हैं, पुत्र हुआ है और मुझे रोचन आया है। राम कहते हैं—पुत्र ! तुमने बड़ी विपत्ति में जन्म लिया है। यदि अयोध्या में जन्म लेते तो मैं भी तुम्हारा मुख देखता। तुम्हारे जन्म की खुशी में राजा दशरथ पटना नगर लुटाते और रानी कौशल्या गहने लुटातीं। राम की आंखों में आंसू बहने लगे, जिन्हें वे दुपट्टे से पोंछते हैं :

पहिला रोचन राजा दशरथ दुसरा कौसिल्ला रानी।
कहो, तिसरा रोचन देवर लछिमन, पियइ न बतायउ हो॥
छोटे कदम कइ डाल त राम दतुइन तोरैं।
लछिमन किनके रोचन तुम पायउ त मथवा
भभर भभर करै झहर झहर करै॥
भउजी जो हमरी सितल देई बड़ि गुन आगरि।
भइया उनहीं के भये नन्दलाल रोचन हम पायो॥
जनम न ले ले पूता बड़ी रे बिपति में हो।
बड़ी रे साँसति में हो।
पूता जनम जो लेतेउ अजोधिया हमहु मुँह देखित॥
राजा दशरथ पटना लुटउतें कौसिल्ला रानी अभरन।
रामा तरर तरर चूवे आँस पटुकवन पोंछइ।

इस गीत में दशरथ के जीवित होने की बात इसलिए आवश्यक है कि राम को सबसे अलग करके रखना है। सीता सबसे अधिक आहत हैं राम से, इसलिए राम को संदेश नहीं भेजतीं और राम अपनी ग्लानि अपने आंसुओं से धोते हैं। इसी गीत के एक दूसरे संस्करण में लक्ष्मण की बात सुनते ही राम के हाथ का गेड़ुवा हाथ में और मुंह की दातौन मुंह में रह जाती है और आगे वशिष्ठ, पीछे लक्ष्मण बीच में राम सीता को मनाने चलते हैं। सीता कहती हैं, गुरुजी आपकी बात मैं नहीं टालूंगी, दस कदम चलूंगी, पर अयोध्या में नहीं जाऊंगी और नगर के फाटक

पर ही पृथ्वी में समा जाऊंगी :

हाथे क गेड़ुवा हाथ रहा मुख की दँतिवन मुखे रही ।
ढुरै लागै मोतियन आँस पटुकवन पोंछइ ।
आगे कै घोड़वा वशिष्ठ मुनि पीछे कै लछिमन ।
बीचे कै घोड़वा रामचन्दर सीता के मनावन चलें ।।
तुम्हरा कहा गुरु करबइ परग दस चलबइ ।
फाटल धरती समावइ अजोधिया न जाबइ ।।

इस गीत में सीता का दीप्त अभिमान बोल रहा है, ऐसा अभिमान जो राम से समझौता नहीं करना चाहता। इसी के तीसरे संस्करण में केवल लक्ष्मण सीता को बुलाने जाते हैं और सीता कहती हैं :

जाहु लच्छन घर अपने त हम नहीं जाइब ।
मोरे जिअइ नंदलाल त उनके कहइहैं ।।

लक्ष्मण, जाओ, मैं नहीं जाऊंगी। मेरे पुत्र जीयेंगे तो जिस राम ने बुलाया है उन्हीं के कहे जायेंगे।

एक चौथे गीत में मनाने की लंबी प्रक्रिया है—नौमी को राम ने यज्ञ ठाना है, उन्हें लगता है सीता के बिना यज्ञ फीका है। राम वशिष्ठ से सीता को मनाने को कहते हैं। वशिष्ठ और लक्ष्मण जाते हैं। सीता पत्ते के दोने में गंगाजल रखकर वशिष्ठ के चरण धोती हैं, वशिष्ठ कहते हैं, सीता, तुममें इतनी बुद्धि है, किसने तुम्हारा ज्ञान हर लिया है कि तुमने राम को बिसरा दिया है। सीता कहती हैं, गुरु तुम सब जानकर अनजान न बनो। राम ने मुझे आग में जलाकर बाहर निकाला और जब मुझे गर्भ रहा तो घर से बाहर निकाल दिया। अब उनसे चित्त नहीं मिलेगा। तुम कहते हो तो चार पग अयोध्या की ओर चलूंगी फिर धरती फटेगी और समा जाऊंगी। फिर अब राम चंदन की पालकी लेकर चलते हैं; एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे वन में पहुंचते हैं। गुल्ली-डंडा खेलते दो बालक मिलते हैं, जो राम का मन मोह लेते हैं। राम कहते हैं, किसके पुत्र हो, किसके नाती हो और किसकी कोखसे जन्मकर आंख तुमने जुड़वाया। लड़के कहते हैं—बाप का नाम नहीं जानते, लक्ष्मण के भतीजे हैं, राजा जनक के नाती हैं और सीता की कोख से हमने जन्म लिया है।

आगे ऋषि की मड़ई थी, वहीं एक कदम का पेड़, वहीं खड़ी सीता केश सुखा रही थीं। पीछे उन्होंने देखा तो राम खड़े थे। राम ने कहा, रानी, मन की ग्लानि छोड़ दो, अयोध्या बसाओ, तुम्हारे बिना जीना व्यर्थ है। पर सीता राम को एकटक देखते-देखते पृथ्वी में समा जाती हैं कुछ नहीं बोलतीं :

माघे के तिथि नौमी राम जगि रोपेन ।
राम बिना रे सिता जगिग सूनि सिते लइ आवउ ।।१।।

अरे रे गुरु वसिष्ठ पइयां तोरे लगीं।
गुरु तुमरे मनाये सिता अइहइँ मनाय लै आवहु ।।२।।
अगवा के घोड़वा वसिष्ठ मुनि पाछे लछिमन देवर।
हेरैं लागे रिसि की मढ़ुलिया जहां सीता तप करें ।।३।।
अगनेहि ठाढ़ी सिलल देइ रहिया निहारन।
रामा आवत हैं गुरु हमार त पाछे लछिमन देवर ।।
पतवा के दोनवाँ बनाइन गंगाजल पानी।
सीता धोवैं लागीं गुरु जी के चरन औ मथवा चढ़ाइन ।।
इतनी अकिल सीता तोरे तूँ बुधि के आगरि।
सीता किन तोरा हरा है गियान त बुद्धि फिरायउ ।।
सबके हाल गुर जानो अजान बनि पूछो।
गुरु अस कइ राम मोहि डाहेन कैसे चित्त मिलहैं ।।
अगिया में राम मोहि डारेन लाइ भूँजि काढ़ेन।
गुरु गरुहे गरभ से निकारेनि त कइसे चित्त मिलिहैं ।।
तुमरा कहा गुरु करबइ परग पाँच चलबइ।
गुरु अब न अजोधिया के जाब औ विधि न मिलावैं ।।
हँकरहु नगर क कहरा बेगिहि चलि आवहु हो।
कहरा चननक डड़िया फनावउ सितहिं लइ आवउ हो ।।
एक बन गइले दुसर बने तिसरे विन्द्रावन।
गुल्ली डण्डा खेलत दुइ बलकवा देखि राम मोहेन ।।
केकर तू पुतवा, नतियवा केकर हो भतिजवा।
लरिका कौनी मयरिया कै कोखिया जनमि जुड़वायउ हो।
बाप कै नउवाँ न जानौ लखन कै भतिजवा।
हम राजा जनके कै नतिया सीता कै दुलरुवा हो ।।
एतना वचन राम सुनलेन सुनहू न पवलेन हो।
रामा तरर तरर चूवैं आँस पटुकवन पोंछइ हो ।।
अगवे रिषि कै मड़ुलिया राम नियरायेनि हो।
रामा छापक पेड़वा कदम कर लगत सुहावन हो ।।
तेहि तर ठाढ़ि सितल रानी केसियन झुरवइं हो।
पछवाँ पलटि जब चितवइ रामजी ठाढ़े हो ।।
रानी छोड़ि देहु जियरा विरोग अजोधिया बसावहु।
सीता अँखिया में भरली विरोग एकटक देखिन।
सीता धरती में गइली समाइ किछौ नाहीं बोलिन ।।

इस प्रसंग में सभी गीतों में यह ध्यान देने योग्य है कि सीता अयोध्या नहीं

आतीं, वे भूमि-प्रवेश करती हैं तो वाल्मीकि के आश्रम में ही करती हैं। अंतिम गीत में सीता के मन में एक अंतर्द्वन्द्व दिखाई देता है। राम के लिए प्रेम बैठा ही है। उन्हें देखने की ललक वैसी ही नयी है, पर एकनिष्ठ प्रेम का अभिमान भी उतना ही दुरन्त है। स्पष्ट है कि लोक-साहित्य की सहानुभूति सीता के साथ अधिक गहरी है, पर राम के अनुताप को भी उनके निःशब्द आंसुओं के द्वारा रेखांकित करके लोक-साहित्य यह जतलाता है कि राम की विवशता भी सीता के ही तेज को और प्रखर करने के लिए है। निर्वासित राम से निर्वासक राम कहीं अधिक मानवीय लगते हैं। निर्वासित अवस्था में तो वह जो कुछ भी हैं 'राजा हैं' पर निर्वासक राम में राजा होकर भी सबसे अधिक अनुकंपा के पात्र हैं कि पुत्र-जन्म का संदेश पाने के भी अधिकारी नहीं हैं, पति और पिता होते हुए भी ऐसे अभागे कि पत्नी उनके लिए अनकहा संदेश भेजती हैं और पुत्र उनका नाम नहीं जानते। लोक-मानस इस प्रकार राम के समूचे मानवीय दुःख को अपनाता है, सीता को देवी के रूप में आदर देता है। मिथिला और अवध के लोग अगहन मे विवाह असगुन मानते हैं, सिर्फ इसलिए कि अगहन में सीता का विवाह हुआ और उन पर एक के बाद दूसरी विपत्ति आयी। यही नहीं, एक बहुत बड़े क्षेत्र में विवाह के पहले कन्यायें आंचल पसारकर धोबिन से सुहाग मांगती हैं और धोबिन बहुत मनावन के बाद एक चुटकी सिंदूर देती है। धोबिन का यह आदर इसलिए है कि धोबी के दुर्वचन से एक धोबिन के घर से निकाले जाने पर सीता जैसी सुहागिन का वनवास हो गया। इसलिए धोबिन को प्रसन्न करना अपने सुहाग को कायम रखने के लिए बहुत आवश्यक माना जाता है। यह कर्मकांड केवल छूछा कर्मकांड नहीं। इसके लिए तो कोई मंत्र भी नहीं है, केवल लोक-चित्त में सीता-राम के दाम्पत्य-जीवन के क्लेश के लिए गहरी चिंता का प्रतिस्मरण है। एकनिष्ठ प्रेम की कठोर साधना को निरंतर आदर देने का भारतीय लोक-मानस में भाव बना हुआ है, यह राम और सीता के साथ जुड़ने के ही कारण।

विवाह के बहुत-से गीतों में बरुवा और वर को राम के रूप में देखने का प्रयत्न है। आठ वर्ष के राम मंड़वे के नीचे कौशल्या से भीख मांग रहे हैं। नया उपवीती बालक साक्षात् रामचंद्र हैं, यह भावना मां के मन में निश्चय ही उत्साह उत्पन्न करती है। भिक्षुक वेश में राम नंगे पांव, नंगे सिर खड़े हैं। मेरा लड़का राम की तरह संघर्ष करेगा और विजयी होगा :

> आठ बरिस के रमइया उन्हें देतेउ जनेऊ ना
> इतना सुनतइ वशिष्ठजी मलिआ बुलावईं।
> माली पानेन मड़वा छवावउ कलसा धरावउ
> आठ बरिस कै दुलरुवा मड़ये तर ठाढ़े।

विवाह के पहले एक रस्म नहछू की होती है। इसमें जो गीत गाया जाता है

उसमें भी नाई-नाइन से लड़ता है कि तुमने तो गहने नेग पा लिये, मैं तो घोड़ा लूंगा और उसे आश्वासन मिलता है कि राम ब्याह कर घर लौटेंगे तो तुम्हें घोड़ा मिलेगा।

नौआ जे झगरै नउनियाँ से यह सब थोर।
राम लछन जी के नहछू लेबी मैं घोड़ ।।
जनि झगरौ नौआ रे जनि झगरौ यह सब थोर।
राम बियाहि घर लौटें तौ देब्यो मैं घोड़ ।।

विवाह से संबद्ध अधिसंख्य गीतों में वर-वधू का समीकरण राम और सीता से है। सीता विवाह के पूर्व सबेरे से दुपहर तक फूल चुनती हैं, शाम तक माला गुहती हैं और परिक्रमा करती हुई शिव को माला चढ़ाते हुए आशीर्वाद मांगती हैं, बाबा अन्न-धन चाहे कम देना, पर स्वामी रूप में मुझे राम को देना जो मेरी नाव पार लगायेंगे और जिन्हें देखने से आंख जुड़ा जायेगी :

देउ न मोरी माई बाँसे क डलइया फुलवा लोढ़न हम जाब।
फुलवा लोढ़त भइलीं खड़ी दुपहरिया हरवा गछत भइलीं साँझ।
घुमरि-घुमरि सीता फुलवा चढ़ावैं शिव बाबा देलेन असीस।
जौन माँगन तोहूँ माँगौं सितल देई उहैं माँगन हम देब ।।
अब धन चाहे जो दीहा शिव बाबा स्वामी दिहा सिरी राम।
पार लगावैं जे मोरी नवरिया जेहि देखि हियरा जुड़ाइ ।।

इसी प्रकार का आशीर्वाद सीता पार्वती से पाती हैं। हर विवाह लोक-मानस में धनुष यज्ञ है, हर कन्या का पिता जनक, वर का पिता दशरथ, कन्या सीता और वर राम हैं। बारात दरवाजे पर आती है तो कन्या अटारी पर चढ़ करके सखियों से पूछती है कि कौन दुलहा, कौन दुलहे का बाप और कौन दुलहे का भाई है। सखियां सचित्र वर्णन करती हैं : मदमाती झूमती आ रही हाथी पर बैठा सोने का मुकुट पहने दूल्हे का बाप है। नदी के किनारे घोड़ा दौड़ाते काली भंवर मूछों वाला जो दीख रहा है, वही दूल्हे का जेठा भाई है और चम-चम करती जो चंदन की पालकी को उठाये कहार आ रहे हैं और उसमें पीताम्बर पहने जो सांवला है वही दूल्हा है।

सात सखी सीता चढ़ि गईं अटारिया इन्द्र झरोखे लाग।
कौन दुल्हा कौन दुलहे के बाबा कौन दुलहे के जेठ भाय ।।
माती हथिनिया रे घुमरत आवै घुमरि-घुमरि झारै पाँव।
सोने कै मुकुटवा विराजत आवै वै दुलहे कर बाप ।।
नदिया केइ रे तीरे घोड़ा दौड़ावैं मोछिया भँवर मन भाय।
हाथे सुबरना गरे मोती माला वै दुलहे के जेठ भाय ।।
चनना के डाँड़िया चमकावत आवैं झूमत चारिउ कहार।

पीत पितम्बर झलकावत आवैं ओई अहैं दुलरू दमाद ॥

विवाह के एक गीत में जनक सीता को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं, दूधों नहाओ, पूतो फलो, पर बारह वर्ष के लिए राम बनवास जायेंगे और तुमको रावण हर लेगा। सीता पिता से कहती हैं, क्यों ऐसा असगुन कहते हो, क्या बावले हुए हो? जनक कहते हैं तुम्हीं बावली हो, तेरी बुद्धि किसने हर ली है? बेटी! जो कुछ ललाट पर लिखा है वह कैसे मेटा जा सकता है?

राम की जब आरती उतारी जाती है तो राम की आंखों में आंसू दिखाई देते हैं। कौशल्या पूछती हैं—क्या तुमको जनक ने गाली दी है, या दहेज कम मिला है या तुम्हारी सीता सुंदरी नहीं है? आंखों में आंसू क्यों हैं?

राम कहते हैं, मां, न जनक ने मुझे गाली दी, न दहेज कम मिला, न सीता ही कम सुंदरी है, तीन लोक मुझे दहेज मिला, सीता जैसी लक्ष्मी मिली, पर मुझे वनवास लिखा है:

दुधवा नहायो बेटी पुतवन फलेऊ कोखियन झालर लागु रे।
बारह बरिस राम वन के सिधरिहैं तोहके रावन हर लेइ रे॥
बाउर भइल तूँ बाबा जनक रिखि तोर हरल गियान रे।
इहइ वचन बाबा असगुन बोलले मरतिउ जहर विख खाइरे॥
बाउर भइलू तूँ बेटी रे सीता के तो हरलें गियान रे।
जो कुछ लिखल बेटी तोहरे लिलरवाँ से कइसे मेटल जाइ रे॥
मिलहुँ न सखिया रे मिलहुँ सहेलरि मिलहुँ सकल रनिवास रे।
जस जस मोरे माता आरती उतारइँ राम नयन ढरैं आँसु रे॥
किया तोहके राम जनक गरिअवले किया तोके दायज थोर रे।
किया तोर राम सिता नाहीं सुन्नर काहे नयन ढुरै आँस रे॥
नाहीं मोर माता जनक गरिअवले नाहीं मोर दायज थोर रे।
लछमी सीता रानी मोरे घर अइलीं हमके लिखल वनवास रे।

इस गीत में राम को वनवास की चिंता इसलिए है कि केवल वनवास ही नहीं सीता का हरण भी लिखा है, उसकी बात वह मां से नहीं कहते। राम का विवाह एक कठिन जीवन की तैयारी तो है ही, कोरा प्रमोदोत्सव नहीं है, हरेक गृहस्थ का विवाह भी ऐसा ही है, यह भावना इन गीतों में प्रतिध्वनित है।

पर सबसे अधिक राम का स्मरण और राम की वन-यात्रा का बड़े छोह के साथ स्मरण मेले और तीर्थ-यात्रा वाले गीतों में किया जाता है। इन गीतों में या तो राम की अनुपस्थिति में अयोध्या के सुनसान होने का उल्लेख है, उसके साथ-साथ अयोध्या छोड़कर राम के साथ-साथ चलने का संकल्प है:

अवधा लगेला उदास हम ना अवध में र वैं॥

या फिर रघुवर के साथ ही साथ चल पड़ने की उतावली है और वे रथ पर चलें तो हम जमीन पर चलेंगी, वे वन-फल खायेंगे तो हम उसके छिलके पर गुजर करेंगी, वे पत्ते पर सोयेंगे तो हम जमीन पर ही सो लेंगी :

रघुवर सँग जाब हम ना अवध में रहबइ।
जो रघुवर रथ पर चलिहैं भुइये चली जाब। हम० ॥१॥
जो रघुवर बन फल खइहैं, फोंकली बिनि खाब। हम० ॥२॥
जो रघुवर पात बिछइहैं, भुइयाँ पड़ि जाब। हम० ॥३॥

या फिर कौशल्या का भांति-भांति का विलाप है, मेरे दुलारे राम-लक्ष्मण, मेरी बहू जनकदुलारी सब वन चले गये। राम के बिना मेरी अयोध्या सूनी है, लक्ष्मण के बिना बैठक सूनी है और सीता के बिना रसोई सूनी है, क्योंकि सीता नहीं तो किसके लिए रसोई :

किन मोरि अवध उजारी हो—बिलखै कउसिल्ला।
कहाँ गये राम कहाँ गये लछिमन कहाँ गई जनकदुलारी हो ॥१॥
वन गये राम वन गये लछिमन बन गयी जनकदुलारी हो। बिल०॥२॥
राम बिना मेरी सूनी अजोधिया लछिमन बिना चौपारी हो।
। बिल० ॥३॥
सीता बिना मोरी सूनी रसोइयाँ राम लखन ज्योनारी हो।
। बिल० ॥४॥

या फिर भरत का विलाप है, मां, राम कहां गये, घर-घर, घाट-घाट प्रजा रो रही है, सारी अयोध्या सूनी हो गयी है, लक्ष्मण के बिना शासन का सारा स्वाद सूना हो गया है, सीता के बिना रनिवास सूना हो गया है या राम के लिए जन-जन की विह्वलता है :

मेरे ऐसी सुरतिया के राम ते कैसे बिसरावउँ
अँखियाँ त ओनकर जइसे अमवा के फँकिया
ओठवन चुवेला गुलाब त कैसे बिसराउँ।

ऐसे राम को कोई कैसे भूल सकता है, जिनकी आंख आम की फांक हो और जिनके ओठों से गुलाब चूता हो, ऐसे सुघर सलोने राम को कैसे भूला जा सकता है। एकाध गीतों में राम के लिए उद्वेग और गहरा हो जाता है और सारा आक्रोश राम की ओर मुड़ जाता है—राम बड़े बेईमान निकले, उन्होंने क्यों मुझे बेसहारा छोड़ दिया :

राम बेईमान अकेल छोड़ गइलैं ॥

किसी भी प्रकार राम के बिना धैर्य नहीं धारण किया जा सकता और हर तीर्थ-यात्रा इसी अधैर्य के आवेग में की जाती है। कहीं न कहीं तो मिल जायें। न मिलें तो उन-उन आश्रमों-तीर्थों का स्पर्श मिल जाय, जिनको उन्होंने पवित्र

किया है। लोक-मानस के भारत में राम ने न जाने कितने पड़ाव बना डाले हैं। कितनी सीता-नहानी, कितनी सीता-रसोई, कितनी सीताबनीं लोगों ने भारत के मानचित्र में आंक रखी हैं, कहीं न कहीं राम मिलेंगे ही, क्योंकि राम हमीं लोगों के लिए वन-वन घूम रहे हैं।

हिन्दुस्तान की लोक-कल्पना भी अद्‌भुत है कि उसके वनवासी राम के आंधी-पानी में भीगने की चिंता तो होती ही है, उनके मुकुट के भीगने की भी चिंता होती है, क्योंकि राज्य न हो, सेना न हो, राज्य के और साज-बाज न हों, पर राम चाहे जिस रूप में जहां कहीं भी हों, उनके सिर पर मुकुट तो होना ही चाहिए। अपने निर्वासन में भी उन्हें विश्वात्मा का अधिपति तो होना ही चाहिए, इसीलिए उनके मुकुट के भीगने की इतनी चिंता होनी स्वाभाविक है। इससे भी अधिक चिंता लक्ष्मण के दुपट्टे के भीगने की है, जो उनके कमर में कसा है। यह दुपट्टा मुकुट का सहयोगी है, क्योंकि उस निर्वासन में यह दुपट्टा ही मुकुट का पहरुवा है। इन दोनों के भीगने से भी अधिक चिंता सीता के सिन्दूर के भीगने की होती है कि राम जो कुछ हैं वह सीता के सोहाग के बल पर, सीता के साहचर्य के कारण। इसीलिए निर्वासित राम अयोध्या के राम से अधिक तेजस्वी हैं। अयोध्या के राम तो सीता के वनवास को लेकर मलिन हो जाते हैं, उनके मुकुट का तेज झंवा जाता है, पर सीता का सिन्दूर दमकता रहे, मुकुट भीग भी जाय तो भी सीता की ओजस्विता बनी रहे, इसी सिन्दूर की दमक के कारण राम घर लौट आयें।

राम कै भीजै मुकुटवा लखन सिर पटुकवा हो राम।
मोरी सीता कै भीजै सेनुरवा लवटि घर आवइँ हो राम॥
भीजै त भीजै मुकुटवा पटुकवा न भीजइ हो।
भीजै त भीजै पटुकवा सिन्दुरवा न भीजइ हो।
अहै, सेन्दुरवा के साथ सिया घर लवटइ हो।

इन गीतों के अलावा अलग-अलग ऋतुओं के गीतों में होली, चइता, कजरी, हिंडोला तथा कोल्हू, जंतसार, रोपनी, धोबिया, कहरवा, सोहनी जैसे श्रम-गीतों में भी राम का स्मरण बार-बार मिलता है। राम-कथा के रूप में राम-नाम की महिमा के रूप में या और कुछ न हो तो 'रामा' या 'राम' की टेक के रूप में राम इन गीतों में मिले हुए हैं। चइता के एक गीत में राम के द्वारा धनुष-भंग का एक बहुत ही अर्थव्यंजक चित्र है। कितने सहज लीला-भाव से राम धनुष तोड़ते हैं, इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की गयी है:

आहो रामा एक हाथे रामचन्द्र धेनुहा उठावें हो रामा।
दूजे हाथे, कीट मुकुट सरिहावें हो रामा।

सिर्फ एक हाथ में धनुष उठाना और दूसरे हाथ से विजय की अदा में शीश का मुकुट सहलाना राम के पराक्रम का बहुत ही सजीव चित्र उपस्थित करते हैं।

राम के ऐश्वर्य को लोक-मानस स्वीकार करता है, पर उस ऐश्वर्य को निरंतर आत्मीयता की चुनौती भी देते रहना कि मेरा तो यही प्रण है कि होली मेलेंगे तो रघुवर के साथ, रहा करें पराक्रमी और अयोध्या के राजा।

प्रण यही मेरो रघुवर जी से मेलबि होरी।
जाके सिर पर मुकुट विराजे, सांवर गोर दुनों जोरी।
भाल बिसाल, तिलक बिच सोभा सिन्धु खगोरी ॥
प्रण यही मेरो० ॥

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि राम निरंतर आंखों के आगे नाचते रहते हैं और उनके दुःख में साधारण आदमी भीगकर रम का विधाता बनता रहता है और साधारण को झेलते हुए राम अपने बिल्कुल निकट के, अपने साथ के, अपनी पहुंच के आत्मीय मनुष्य लगते हैं। जब कोई अहीर बिरहा टेरता है :

राम लछिमनवां बनवां के चललें,
सीता चलेलीं संग तोर
राम लछिमनवां के लगली पियसिया
सीता देलीं अमिरति घोर।

तो आंखों के सामने न केवल जेठ-बैसाख में पहाड़ पर चलते-चलते प्यास से आकुल राम-लक्ष्मण आंखों में झूल जाते हैं, बल्कि उनके साथ ही साथ उस प्यास को निवारने वाली अपने हाथों घड़ा भरकर दूर से वह सीता भी हल्के-हल्के रिमझिम घटा की तरह लरज जाती हैं। भारतीय लोकचित्त सत्य, पराक्रम और कोमलता की त्रिपुटी के रूप में राम, लक्ष्मण और सीता को देखता है और यही कारण है कि उसके संघर्षमय जीवन में राम की छवि है और राम की गाथा उसके जीवन के संपूर्णता की गाथा है, जो कभी पूरी नहीं होती, पूर्ण से पूर्णतर होने के लिए निरंतर नयी होती रहती है। राम के चक्कर में जिंदगी गति पाती रहती है और लोक-जीवन के चिरनीदार चक्कर में पड़कर राम सहज से सहजतर होते रहते हैं। साधारण आदमी के लिए रामलीला कोई नाटक या तमाशा नहीं है, एक जीवंत घटना है, जिसमें राम तो बार-बार घटित होते ही हैं, राम के साथ-साथ रामभक्ति चित्त का एक पटल भी घटित होता है, राम का नया अभिषेक होता है, उनके साथ-साथ राम में जीने वाले साधारण आदमी भी उस अभिषेक का एक घट बनकर बड़ा हो जाता है। राम और हिंदुस्तान का जन-मानस दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची बन गये हैं।

समकालीन साहित्य में परंपरा की पहचान

साहित्य समस्त सर्जनात्मक व्यापारों में सबसे अधिक लाचार है कि उसे जो दिया हुआ मिला है, उसको अनदेखा न कर सके। कारण बहुत स्पष्ट है, साहित्य का माध्यम है भाषा और साहित्यकार इस भाषा की जमीन से कटकर कुछ लिख नहीं सकता, लिखता भी है तो कहीं उस लिखने के माध्यम से पहुंच नहीं सकता। ऐसी भाषा विडंबना बन जाती है, जिसका समाज साझीदार न हो सके। पर एक दूसरी दृष्टि से देखें तो यह स्थिति केवल विवशता नहीं, चुनौती भी है कि दी हुई भाषा में अनदिया कुछ दें, जो रीत रहा है, उसे भरें, जो चुक रहा है, उसे नयी शक्ति दें, यह चुनौती ही सार्थक साहित्य-रचना की बुनियाद है। इसलिए साहित्य के लिए परंपरा की पहचान उसकी नियति भी है, उसका कर्म भी है। समकालीन साहित्य के बारे में एक आम धारणा है कि वह परंपरा से कटा हुआ है, परंपराओं की राख में समकालीन साहित्य के बीज पड़े, पुराने मूल्य ध्वस्त हो गये, समकालीन साहित्य ऐसे नये मूल्यों की प्रतिष्ठा कर रहा है, जिनकी पूर्वकाल में कभी कल्पना भी नहीं की गयी थी। यह धारणा पूरी तरह सही नहीं है, क्योंकि समकालीन साहित्य जिस भाषा में लिखा गया है, वह राख नहीं है। वह जीवित शरीर है, आम के पेड़ की तरह हर वसंत में बौराने वाला और ठीक कहें तो नीम के पेड़ की तरह, सारी की सारी पत्तियां झर जाती हैं, पर पेड़ वही रहता है। उसी पेड़ में कषायगंधी झीने-झीने फूल और नयी कटीली पत्तियां भर जाती हैं, पेड़ नया हो जाता है, पेड़ के आस-पास की हवा नयी हो जाती है। साहित्य इस पेड़ के वसंत की पहचान है।

हां, यह अलग बात है कि पहचान कई तरह की हो सकती है। एक पहचान होती है शर्माती और कतराती हुई पहचान कि किस दरिद्र भाषा में हम पैदा हुए। किन वहमों से घिरे हुए? कैसा तो यह माटी का घर, उस पर चढ़ी हुई कैसी तो

ये चौड़े बड़े खुरदुरे पत्तों वाले काशीफल की बेलें ? इस प्रकार की पहचान से जो साहित्य रचा जाता है, वह आकाशबौर की तरह फैलता तो है, पूरे के पूरे पेड़ को जकड़ भी लेता है, पर वह जड़ नहीं पकड़ता और एक दिन अचानक सूख जाता है। एक दूसरी पहचान होती है भटकती हुई पहचान, कुछ याद आता है, कुछ नहीं, यकायक लगता है कि नहीं, यह देखी-पहचानी सूरत है, यह सूरत न भी पहचानी हो, पर इसकी पग-ध्वनि मेरी पहचानी है।

कालिदास ने इस पहचान को अपने काव्यशास्त्र का आधार बनाया। शकुंतला आने वाली है, दुष्यंत उसे भूल चुका है, इसी समय वह एक गीत सुनता है, 'मधुकर, कमलिनी-वन में ऐसे रमे कि उस आम्र-मंजरी को भूल गये, जिसकी कषाय-गंध तुमने जी भर पी' :

अहिणवमहुलोलओ भवं तह परिचुम्बिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुओ, महुअर वीसरिओसि णं कहं ॥

और वह सोचने लगता है कि इस गीत को सुनकर मन किसी के लिए उन्मुक क्यों हो रहा है। आगे सोचता है कि सौंदर्य का या माधुर्य का तो यह स्वभाव ही है कि वह नया होते हुए भी कुछ पहचाना-सा लगे, कुछ पहले का आविद्ध करने वाला अनुभव उससे उभरे, तभी तो वह सौंदर्य है, माधुर्य है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननांतरसौहृदानि ॥

तो इस भटकती पहचान में स्मृति और विस्मृति का द्वैताद्वैत रहता है और इसीलिए यह पहचान सार्थक और सक्रिय पहचान होती है। इस पहचान की प्रक्रिया में अपना स्वयं रूपांतर हो जाता है। आदमी जहां है, वहां से विस्थापित हो जाता है, और ठौर पाने के लिए, अपना ठिकाना पाने के लिए उत्कंठित और उन्मन हो उठता है। इस पहचान में संशय का तत्त्व ही इसे अधिक सक्रिय बनाता है और स्मृति का तत्त्व ही इसे अधिक आवेधक बनाता है। समकालीन साहित्य में विस्मृति का बहुत बड़ा दबाव है, वह छापेखाने के जमाने का साहित्य है, जहां अनुश्रुत की स्मृति एकदम अनावश्यक तो नहीं पर काफी महत्त्वहीन हो गयी है। बहुत-से आस्वाद भूल गए हैं, जीवन के बहुत सारे रंग धुलकर पुंछ गये हैं। हमारी शिक्षा भी छपे हुए शब्द पर अधिक आधृत होने के कारण कुछ भुथरी हो गयी है, क्योंकि श्रुति में तो एक सूक्ष्मतर भेद कायम रहता है, पर यंत्र-मुद्रित शब्द में, उसकी सूक्ष्मतर अभिव्यंजना एकदम चौरस हो जाती है। इसलिए समकालीन साहित्य को अपनी परंपरा की जो पहचान अधिकतर होती है, वह इस प्रकार की विस्मृति के दबाव में होती है और इसीलिए वह पहचान धुंधली होती हुई भी

तीव्र प्रभाव छोड़ती है, क्योंकि वह भीतर की घुंध काटती है। हम इस पहचान पर फिर लौटकर आयेंगे। पहले कुछ दूसरी पहचानों की बात कर लें।

एक तीसरी पहचान है, आईने में अपना चेहरा देखते समय जैसा होता है, वैसी पहचान; ऐसी पहचान के लिए कोई दर्पण चाहिए। दर्पण के साथ-साथ साहस चाहिए कि अपना चेहरा देखकर डर न जायें, संमोहित न हो जायें, बेहोश न हो जायें, क्योंकि चेहरा सुंदर हो तो भी खतरनाक, कुरूप हो तो फिर बात ही क्या; लोग अधिकतर ऐसी आमने-सामने पहचान के लिए प्रस्तुत नहीं होते, विशेष रूप से जो मुखौटों के आदी हो चुके हैं और जो प्रस्तुत होते भी हैं, वे निर्मल दर्पण ढूंढ़ते रहते हैं, निर्मल दर्पण जल्दी मिलता नहीं।

कबीर, सूर, मीरा, तुलसी जैसे संत कवियों के हाथ में तो पूरा चर-अचर विश्व दर्पण बनकर आ गया था, इसीलिए तुलसी कह सकते थे :

> हम लखि हमहिं हमार लखु हम हमार के बीच।
> तुलसी अलखहि का लखहु राम नाम जपु नीच ॥

समकालीन साहित्य में इस प्रकार के दर्पण की तलाश तो है, पर विश्वदृष्टि बहुत समग्र होने के प्रयत्न में खंडित है, इसलिए दर्पण टूटा हुआ मिलता है या आलोक मटमैला लगता है, पर जब कभी उसके भीतर से पूरी वास्तविकता उभरती है तो रचनाकार अनायास अपनी परंपरा के साक्षात्कार से सिहर उठता है जैसे अज्ञेय की कविता 'महानगर : कुहरा' लीजिए :

> साँवरे मटमैले प्रकाश के कंधे
> जहाँ-जहाँ कुहरे में लटक रहे हैं।
> रंग बिरंगी हर थिगली
> संसार एक।
> सीली सड़कों पर कराहती ठिलती जाती
> ये अंगारनैन गाड़ियाँ
> बनाती जाती हैं आवर्त-विवर्त
> अनवरत बाँध रहीं
> उन अधर-टँके सब संसारों को
> कुंडली में, जिस पर
> होगा आसन
> किस निराधार नारायण का
> ये कितने निराधार नर
> क्षण भर हर चादर की ओर उझक
> तिर तिर आते हैं
> एक पिघलती सुलगन के घेरे में।

एक पिघलती सुलगन के घेरे में नर और नारायण का आमने-सामने टकराव इसी प्रकार का साक्षात्कार है। इस कविता में परंपरा की बड़ी अंगारी पहचान है। कुहरा जब प्रकाश को थिगली बना चुका हो तो निर्भय यंत्रणा ही सही पहचान का आलोक देती है। पर यह कीमत चुकाने के लिए कोई जल्दी तैयार नहीं होता। 'लोकप्रिय और लोकरंजक बने रहो', इसका प्रलोभन रचनाकार को इस प्रकार निर्भय होने का अवसर नहीं देता। इसलिए यह तीसरी पहचान समकालीन संदर्भ में कुछ मुश्किल जरूर हो गयी है, पर असंभव नहीं।

एक चौथी पहचान भी होती है रोजमर्रा की, हम लोगों को रोज-रोज देखते हैं, हम सड़कों-दूकानों और वस्तुओं को रोज-रोज देखते हैं, बल्कि बिना देखने की पूरी कोशिश किये भी देखा हुआ मान लेते हैं। साधारणतः हम जब भाषा सुनते हैं, तो पूरा सुने या ठीक-ठीक सुने बगैर हम सुन लेते हैं, क्योंकि मन में एक सयाना है, जो कहता है, यह तो बार-बार सुना हुआ है, इसको ध्यान से सुनने की जरूरत ही क्या है, यह तो देखा हुआ है, इसे पूरा देखने की जरूरत क्या है? अपनी परंपरा के प्रति पहले से ही मानकर चलने वाली इसी प्रकार की एक सपाट पहचान होती है, यह संवेदना के अभाव की द्योतक है और यदि समकालीन साहित्य में विशेष रूप से कथा-साहित्य में कहीं-कहीं ऐसी सपाट ज्ञान-गर्वित पहचान मिलती है तो इसलिए कि सयानेपन का वहां कुछ अतिरेक है। परंपरा मान ली हुई वस्तु हो नहीं सकती, क्योंकि वह वस्तु ही नहीं, वह तो व्यापार है। परंपरा एक प्रक्रिया है, इस प्रकार क$_1$ से क$_2$ होने का कि क$_1$ में क$_2$ की उत्कंठा हो और क$_2$ में क$_1$ की परिणति, क$_1$ की सार्थकता का अभिज्ञान क$_2$ को न हो तो परम्परा खंडित हो जायेगी। यह प्रायः होता है कि क$_2$ को निरपेक्ष रूप से देखें तो क$_1$ निरर्थक लगे, जैसे तुलसी की भक्ति के सामने वैदिक कर्मकांड और उपासना एकदम अर्थहीन लगें, यह भी हो सकता है कि क$_1$ को निरपेक्ष रूप में देखने पर क$_2$ बहुत उपसहनीय लगे, या कभी-कभी बहुत प्रतिकूल लगे, पर परंपरा दोनों को लेकर है और दोनों नहीं हैं, क$_1$ का क$_2$ की ओर मुड़ना मात्र है। परंपरा के प्रति सतही किस्म की एक दृष्टि होती है, उसे मान लेने की कि वह क$_1$ है और यह कुदृष्टि मात्रा में समकालीन साहित्य के बड़े अंश को सता रही है। यह दृष्टि रूढ़ि और परंपरा में अंतर नहीं कर पाती, अपने देश और अपने समाज की जीवंत धारा में जो सक्रिय करने वाले रासायनिक तत्त्व हैं, उन्हें वह बालू के कण के रूप में अनुभव करके किसकती है और उसे निकालने के लिए प्रयत्न करती है। यह सही है कि जब बदलाव की गति तेज होती है, तो बदलाव के साधक और प्रतिरोधक दोनों प्रकार के जीवन-कण एक-से दिखने लगते हैं और वे दोनों असह्य हो उठते हैं। यह असहनीयता आज के जमाने में विशेष रूप से हिंदुस्तान के समाज का अभिलक्षण बन गयी है। हिंदुस्तान का समाज

अपनी गति से बदलने में डरता है कि कहीं पीछे न रह जाय, इसलिए गति उधार लेता है, परिवर्तन की प्रक्रिया उधार लेता है, परिणाम यह होता है कि उधार ली हुई गति आगे नहीं ले जाती, वह खौलती हुई भंवर बनकर रह जाती है। अगर अपनी गति की पहचान होती तो परिवर्तन सही दिशा में होता और समग्र होता। हिंदुस्तान के समकालीन साहित्य में यह पहचान खोयी नहीं है, कम जरूर हो गयी है।

भवानीप्रसाद मिश्र की एक कविता है 'अंधेरी रात', उसमें ये पंक्तियां आती हैं :

तभी तो आज
हवा फागुन की
डालियों में अटक रही सी है
और खटक रही सी है
नयी आयी हुई ऊष्मा
अभी-अभी फूटी हुई कोपलों को।

जिस भटकती पहचान की बात पहले की थी, उसी पर लौट आता हूं, यह भटकती पहचान बहुत खटकती है, जैसे भवानी भाई की वासंती ऊष्मा कोंपलों को खटकती है, परंपरा का पतझरी रूप में यकायक महसूस होना रक्त की शिराओं को इस प्रकार उत्तप्त करना, सारे शरीर को इस प्रकार झनझना देना और इस प्रकार विवश कर देना कि तुम तुम न रहो, यह सब तभी संभव होता है, जब आदमी परंपरा पहचानता मात्र नहीं, परंपरा होता रहता है, झरता रहता है, हरी डाल पर अटकता रहता है, गलता रहता है और नये प्राणपिक की पुकार पर चुककर भी अचुकता रहता है। स्व० हजारी प्रसाद द्विवेदी को आज कोई कोरा परंपरावादी कहे, पर वे आत्म-ध्वंसक अहंकार-विगलक परंपरा के प्रतिमान थे। उनके उपन्यास समकालीन भारतीय समाज की विडंबनाओं से उबरने की एक ऐसी राह देते हैं जो ऐतिहासिक होते हुए भी कालातीत है, वह न बाणभट्ट के समय की राह है, न कालिदास के समय की, न उपनिषदों के सीधे-सादे ऋषियों के समय की, न मध्य युग की, वह मनुष्य की सनातन राह है। द्विवेदी जी के लिए परंपरा आत्मनिष्पीडन है, गलित द्राक्षारस का निष्पीडन है। मेरी समझ में परंपरा की यही सही पहचान है, क्योंकि इसमें आदमी जब परंपरा को काटता-छांटता है तो अपने को भी काटता-छांटता है और इस काट-छांट में तटस्थता न होकर गहरी संपृक्तता रहती है। मैं नहीं कहता कि द्विवेदी जी की पहचान पूरी पहचान थी, पूरी नहीं थी, इसलिए वह उकसाती है कि पहचान की प्रक्रिया जारी रहे, विशेष रूप से उस समय जबकि अधिसंख्य प्रबुद्ध वर्ग विदेशी मनीषिता से आक्रांत हो। शमशेर जी जैसे संवेदनशील रचनाकार यह पहचानते रहे हैं—

ओह
विदेशी मनीषी
तुम्हारी पूँजी हमने मोल ली है
अपने भविष्य की माया मे
चक्षु दृष्टि ज्ञान ध्यान : अक्षर
अक्षर में हमारी व्युत्पत्ति का विज्ञान
हम तो हैं धर्मक्षेत्रे
तुम्हीं संजय : स्थिर संज्ञायुक्त
हमारे इतिहासकार, ओ विदेशी मनीषी ।
हमारी भाषाओं में प्रेम भाषाओं के भेद भेद जाता है
हम 'एक' ही हैं : 'दूसरा' जो भी है, नहीं है—
अर्थात् असत् है : उसे नहीं ही होना चाहिए ।

ऐसी पहचान अपनी और अपनी दिखने वाली अपनी सबकी समकालीन साहित्य में चलती रहे, तभी वह साहित्य समकालीन भी होगा, साहित्य भी होगा । नकली उतरन वाली रचना तो समकालीन तमाशा है, साहित्य नहीं । समकालीन साहित्य वस्तुतः वह है, जो समकालीन होते हुए भी कालजयी होता है, इसीलिए वह परंपरा के गर्भ में धारित होकर नयी परंपरा का जन्म बनता है ।

स्वाधीनता : धूप का पानी

बरसों पूर्व श्री रघुवीर सहाय की कविता 'पानी के संस्मरण' का अंग्रेजी अनुवाद किया था, कविता पानीदार थी। कुछेक वर्ष पूर्व जब 'कुमारसंभव' का बहुत ही बदनाम सर्ग फिर से पढ़ने लगा, तब उसमें देखा, धूप पानी हो गयी है। संध्या के समय इस बूंद-बूंद पानी को एक ऊंचे पेड़ की चोटी पर बैठा मोर पी रहा है, सांझ गहरा गयी है और थोड़ी-सी धूप पश्चिम दिगंत में झलक रही है, जैसे कोई ताल पूरब से सूखना शुरू हुआ हो और थोड़ा-सा पानी पश्चिम की ओर बच रहा हो।

धूप की कई रंगतें मन में टंकी हुई हैं, धूप के देश में पैदा हुआ, धूप में सिक-कर बड़ा हुआ। जेठ की चिलचिलाती धूप झेली, कुआर की संवराने वाली धूप सही। पूस की धूप में मां के प्यार की गर्मी पायी, फागुन की धूप के गुलाबी नशे में झीमा किया, चैत की धूप में अनमन हो घूमा किया—रन-बन, खेत-खलिहान, कभी करौंदों के साथ महका किया, कभी टेसू के साथ लहका किया, कभी बयार के साथ बहका किया।

असाढ़ में धूप के एकाएक गायब होते ही हरसा किया कि चलो नजात मिली इस झुलसाने वाली डाइन से और सावन आया नहीं कि उसी कलमुंही के प्यार के लिए कभी हफ्तों तरसा किया और एकाएक पेड़ों को एकदम नया करती, धान का मन भरती धूप दीखी तो बस उसके प्यार में नहाया किया। कितनी यादें गिनाऊं इस धूप की। धूप ने मुझे बीच-बीच में बरसों के लिए छोड़ा और धूपहीन मटमैले बादलों के देश में धूप की बहुत याद आयी, धूप में तपे हुए बालू के कण एकाएक झीनी-फुहार बन गए।

धूप मुझे बहुत तेज लगती है। बचपन में जब कभी दोपहर में अमराई से लौटता था, तब खड़ी दोपहरी में तो चेहरा लाल-सुर्ख हो जाता था, दादी बड़ी बेसब्री से राह जोहती रहतीं और आते ही बिलखने लगतीं, मेरा लाल कैसा मुरझा

गया है, दौड़कर पानी ले आतीं। गुड़ की डलिया के साथ पानी देतीं। कहीं कांगा पानी लग न जाए और बिजना डुलाती रहतीं। वह धूप आज भी लगती है, गर्मी के दिन बहुत कष्ट देते हैं, पर लू चल रही हो, लगता हो धूलि में बिरंगा लोट रही हो, दूर-दूर तक झाऊ और बबूल की छांह के अलावा कोई छांह न दीखती हो, बालू राजनेता के झोलीबरदार की तरह तप रही हो, उसमें की गयी यात्राएं आज भी बड़ी जुड़ावन लगती हैं। ठण्डे किए घर में वह तरी नहीं मिलती, जो उन यात्राओं में मिली है।

स्वाधीनता का भी अनुभव बहुत-कुछ धूप-जैसा है। मैंने स्वाधीनता की तपन ज्यादा नहीं झेली, बहुत थोड़ी झेली, स्वाधीनता की सावनी धूप का मजा ज्यादा पाया, पूस वाली धूप का सुखविलास भी कम पाया, पर फागुन की नशीली धूप का शिकार जरूर कुछ दिनों रहा, थोड़ी-बहुत कुआंर की धूप भी छांह-छांह चलते झेली है। सबसे अधिक लंबा और तीखा अनुभव (शायद काल के परिमाण में उतना नहीं, जितना अनुभव के परिमाण से हो) ऐसी धूप का है, जो एकदम बुझी हुई रही है। एक छन को निकलती है, फिर लुप से बुझ जाती है। न उसमें कोई पानी चमकता है, न कोई हरियाली चटक होती है, न पसीना चूता है, न लहू की सुर्खी गालों पर आती है। न उसमें कुछ उन्मद प्यार की गरमाई मिलती है, न स्नेह का गदराया वत्सल स्पर्श।

इस अनुभव से घबराहट होती है। एकदम घटाटोप अंधकार छा जाए, तीतर-पंखी बादलों से आसमान पट जाए, डर नहीं लगता, क्योंकि तब लगता है धूप ही तो बरस रही है, गतिशील प्रकाश के देवता विष्णु ही कृष्ण घनश्याम बनकर उतर रहे हैं।

जेठ की तपन सावन की झड़ी बन रही है, जेठ का सूखा हहकारता पछुवा, सावन-भादों की पुरवाई के रस में घुल रहा है, पर भयंकर उमस और मरियल बरसात के बीच में दयनीय मुद्रा में भीख मांगने आने वाली धूप आंखों को बहुत सालती है, मन को बहुत आतंकित करती है। तब लगता है, बैसाखी व्यर्थ गयी, जेठ व्यर्थ में तपा, नाहक सावन आया। ऐसी स्वाधीनता जिसमें जलन न हो, जिसमें रस न हो, उमड़न-घुमड़न न हो, जीवित स्पर्श न हो (कैसा भी स्पर्श क्यों न हो), जिसमें प्रकाश का अभय न हो और अंधकार का संकल्प न हो, स्वाधीनता नहीं लगती, स्वाधीनता का रोना लगती है। मैं इस रोने से घबराता हूं।

मेरी स्वाधीनता का आगभभूका आकाश बिसराए नहीं बिसरता।...ब्रिटिश साम्राज्य के अस्त न होने वाले गौरव के प्रतीक जार्ज पंचम की मृत्यु हुई, गवर्नमेण्ट जुबिली हाईस्कूल का छात्र था, नंगे पैर, नंगे सिर मातमी, जलूस में गोरखनाथ मंदिर तक जाना पड़ा, उनकी आत्मा को शान्ति देने के लिए। पांव दुखे, धूप लगी, ओठ सूखे, यह सब तो अलग। मन खौल उठा, ऐसी लाचारी कि सात समुंदर पार

के राजा की मौत पर छोटे-छोटे बच्चों की परेड करायी जाए।

उसके कुछ ही दिनों बाद २६ जनवरी आयी, गोरखपुर के सभी स्कूल-कालेजों के छात्रों का विराट् जलूस निकला, पहली बार 'इनकलाब जिंदाबाद', 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—जैसे गगनभेदी नारों के साथ मन ऊपर उड़ा, कहां की थकान, कहां की धूलि, बिना किशोर हुए किशोर उमंगों के ज्वार में बह-कर समुद्र हो जाने का भाव आज भी याद है, पूरे रोमांच के साथ।

२ अगस्त, १६४२। तिकोनिया पुरुषोत्तमदास टंडन पार्क में विराट् सभा, स्व० टंडनजी अध्यक्ष, पं० जवाहरलाल नेहरू प्रमुख वक्ता, पहले पंडित नेहरू बोले, 'मैं अपनी गलती सबके सामने कबूल करता हूं, मैंने अंग्रेज जाति पर विश्वास किया और धोखा खाया। इस विश्वास के भ्रम में हमारी लड़ाई रुकी रही, हमारे मोर्चे ढीले पड़ गए, पर अब कोई चारा नहीं, 'करो या मरो', आजादी छीनकर ही ली जाती है।'

अंत में टंडनजी बोले, 'नेपोलियन ने अंग्रेज जाति को पंसारी कहा था। मैं कहता हूं, यह पंसारियों का अपमान है, अंग्रेज जाति के पास ईमानदारी है ही नहीं। उन्होंने हमें इतना चूसा है, इतना गरीब बनाया है, इतना लाचार बनाया है कि उन्हें क्षमा नहीं किया जा सकता।' आगे बोले—'आने वाला समय कठिन परीक्षा का है, आजादी का घर खाला का घर नहीं है, सीस हथेली पर रखो तो इस घर में पैठ सकोगे।'

तीन घंटे तक आग बरसती रही, सावन का आकाश दहकता रहा!!!

१५ अगस्त, १६४२ को इलाहाबाद कचहरी के सामने मोर्चेबंदी हो गयी, एक कड़कदार आवाज आयी, 'देखो वह अकेले खड़ा है, उसे शूट कर दो।'

छाती तानकर एकाएक एक अनजाना युवक खड़ा हो गया, वह अकेला नहीं है, हम सब उसके साथ हैं, गोली छाती के पार हो गयी। इलाहाबाद में आग भड़क गयी।

बाबूजी (टंडनजी) ने भाषा का लोहा स्वाधीनता की आग में तपाया, उस जलते लौहपिंड को हाथ पर रखकर मुझे स्वाधीनता की अग्निदीक्षा दी गयी। कालेज और स्कूल के दिनों के अंतराल में 'भारत में अंग्रेजी राज', 'पथ के दावेदार', 'लाल पंजा', 'नंदकुमार की फांसी', 'वारेन हेस्टिंग्स'—जैसी जब्त पुस्तकें चोरी-चोरी पढ़ने का उत्ताप कैसा उत्ताप था, पहले प्यार से भी ज्यादा तेज बुखार चढ़ता था। रात-रात भर जागकर ये पुस्तकें पढ़ी गयीं, भयंकर झुरमुटों में छिप-कर पढ़ी गयीं, जितनी ही पढ़ी गयीं, उतनी ही घृणा तीव्र होती गयी, ब्रिटिश हुकूमत के प्रति, इस हुकूमत के वफादारों के प्रति, गेहुएं रंग के देशी अंग्रेजों के प्रति। आज भी शरच्चंद्र के सव्यसाची की ये पंक्तियां अग्नि के अक्षर की तरह दिख रही हैं—"मेरा भाई डाकुओं से निहत्थे लड़ता हुआ मरा, मैं उसके पास गया,

रोने लगा, वह बोला—'छिः-छिः कायर, रोओ मत, मेरे हाथ पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा करो—मैं उन लोगों को जीवन में कभी क्षमा नहीं करूंगा, जिन्होंने हमें अन्याय से और अत्याचार से लड़ने के लिए इतना निकम्मा, इतना साधनहीन, इतना निहत्था बना दिया है।"

मुझे वे अक्षर जब याद आते हैं, तब बालू में पड़ी मछली की तरह तड़प उठता हूं। क्या आज भी हम अन्याय, अत्याचार और शोषण से लड़ने के लिए समर्थ बनाए जा सके हैं? क्या आजादी के तैंतीस वर्षों ने असुरक्षा की संभावना कुछ भी घटायी है? क्या कुछ भी ऐसा हुआ है जो उस आग को धधकाए रखे, उस घृणा को धधकाए रखे, उस देश की जलन को बढ़ाए रखे कि अंग्रेजों ने हमारा 'स्व' हमसे छीन लिया, स्व में हमारी भाषा, हमारे संस्कार, हमारा खुला आकाश, हमारी आंसू-भीनी जमीन, हमारी आंकी-बांकी जीवन-सरिता, हमारे पेड़-पौधे, हमारे पशु-पक्षी और उनके साथ हमारे रिश्ते सब कुछ छीन लिया।

आजादी के तैंतीस वर्षों ने हमसे उस आक्रोश को भी धीरे-धीरे छीन लिया, हमारे ऊपर कृतज्ञता का भार डाल दिया, अंग्रेजों ने हमें कानून दिया, शिक्षा दी, व्यवस्था दी, सलीका दिया, छुरी और कांटे दिए, कुर्सी और मेज दिए, ग्रीक-लैटिन नामों के फूल दिए, जानी-पहचानी चिड़ियों के अनचीन्हे नाम दिए, आंगन से, बरामदे से मुक्ति दी, खिड़कियों पर पर्दे दिए, खुले आसमान से ओट दी, टोंटी का पानी दिया, नदी को ओट किया, बिजली की रोशनी दी, सूरज से पर्दा किया, अंग्रेज न आए होते तो हम इस आधुनिक विश्व में कहीं खड़े न हो पाते।

और कहीं मैं भूल न जाऊं, उन्होंने ऐसी प्यारी पेंचदार गेसुओं वाली नाजनीन भाषा दी, जिसके कटाक्षपात से आबाल-वृद्ध सभी घायल हैं और जिसके एक इशारे पर सारा हिंदुस्तान एक है। इतनी सौगातों से हम दबे हैं कि हम जबान नहीं खोल सकते। जबान खोलें तो उसे खींचने वाले मिल जाएंगे—अंग्रेजों ने शालीनतावश हिंदुस्तान को आजादी दी और वे न होते तो हिंदू-मुसलमान कट कर मर जाते, उन्होंने चुस्त नौकरशाही दी, जिसके बल पर कांग्रेस ने निष्कंटक राज्य किया, आजादी लड़ने से थोड़े ही मिली।

अंग्रेजों ने ही राष्ट्र (नेशन) की अवधारणा दी, हम तो अनेक जातियों, प्रांतों और भाषाओं में बंटे हुए लोग थे। जाते-जाते वे ऐसा कर गए कि जो डिप्टी से कलक्टर न हो पाते, वे लाट गवर्नर हो सके, जो जिला के पुलिस कप्तान नहीं हो पाते, वे आई० जी० हो गए। उनका ऋण भला कभी चुकेगा? सौ-सौ पीढ़ियां भारतीय सेवाओं की गुजर जाएंगी, यह ऋण नहीं उतरेगा, सूद-दर-सूद बढ़ता ही जाएगा।

मेरे जसे जले संस्कार वाले व्यक्ति की थोड़ी-सी कठिनाई है। मैं सूरज का तो कर्जदार हूं ही, सूरज के प्यार में तपती और रस-भीगती धरती का भी

कर्जदार हूं, रहूंगा, अपनी आकांक्षाओं के विराट् आकाश का भी कर्जदार रहूंगा। पर मैं राहु का कर्जदार नहीं हो सकता, मैं ऐसी रुपहली छाया का कर्जदार नहीं हो सकता, जिसके पीछे सूरज छिप गया और जिसके बरसने से हिरोशिमा और नागासाकी में आदमी खड़े-खड़े काली छाया में रूपांतरित हो गए, जिसने आदमी को खड़ा नहीं रहने दिया, उसे मुखर नहीं रहने दिया, इसीलिए जो आजादी ऐसी छाया के लिए बिसूरती है, मुझे बड़ी डरावनी लगती है। आजादी का फैसला दो-टूक फैसला होता है, आधा तीतर-आधा बटेर वाला हिसाब-किताब आजादी के पैंठ में नहीं चलता।

जो व्यक्ति 'स्व' के अधीन रहने की और दूसरों को करने की बात सोचेगा, वह यह हो सकता है कि 'पर' को 'स्व' बना ले और उसके अधीन रहने में उसे पराधीनता का बोध न हो, पर यह कभी भी संभव नहीं है कि ऐसे 'पर' को 'स्व' बनाए, जो स्वयं हमको 'पर' समझता रहे। कहीं प्रमाण है अंग्रेज तो दूर अंग्रेजियत के पुतले साधारण हिंदुस्तानी को (पुरानी हुकूमत के निगर को) 'स्व' समझते हों। उसके लेखे साधारण हिंदुस्तानी जानवर है, जाहिल जपाट है, उसकी कोई इज्जत नहीं उसकी कोई हैसियत नहीं।

अभी कुछ ही दिन पहले एक अनुकंपात्मक टिप्पणी पढ़ी। श्री वेदप्रताप 'वैदिक' ने हिंदुस्तान की राजनीति पर हिंदी में पुस्तक लिखी, टिप्पणीकार ने बड़ा अफसोस जाहिर किया, काश, यह अंग्रेजी में लिखी होती तो कुछ काम की होती। मेरे मित्र डा० गोविंदचंद्र पांडेय ने हिंदी में 'मूल्यमीमांसा' नामक पुस्तक लिखी है। कुछ लोगों ने पूछा, किसी अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है? अर्थात् हिंदी में मौलिक चिंतन अविश्वसनीय है। अब यदि कह सकें कि मधुबनी के चित्र से प्रेम या रविशंकर के देरवाज रिकार्ड का बैठक में प्रदर्शन या बच्चियों के माखन-मिश्री नाम जैसे अनीता, यूथिका, अभ्रा, बीजुरी, ईंगुरी, आमला तो भारतीय जनता के साथ तादात्म्य के प्रमाण हैं तो यह भी पुराने प्रभुओं का पाला हुआ रोग है, लोक-साहित्य, पुरातत्त्व और जनजातियों के रोमांस के लिए उनका प्यार कम भभकाऊ नहीं था।

हां, उनका तरीका कुछ आजकल के हिसाब से बड़ा भोंड़ा था, वे अपने को मालिक कहते थे और मालिक की दहिनदयाली और दरियादिली दिखलाते थे। आज के मालिक अधिक सोफियाना ढंग से बराबरी और हमसफरी का बानक अख्तियार करते हुए ये सब शौक करते हैं। इन शौकों से उनकी जनतांत्रिक छवि (इमेज) बनती है।

जिस तरह प्राइमरी और सेकेंडरी शिक्षा में भरती और निकासी में फर्क बढ़ता जा रहा है, (कहीं हिसाब देखा कि ५० प्रतिशत से ६० प्रतिशत तक शिशु-कक्षा में प्रवेश लेने वाला स्कूल को १२-१३ वर्ष का हो, इसके पहले ही प्रणाम कर

लेता है), उससे तो यही लगता है कि हम इन्हीं मधुबनी चित्र, लोक-धुन और कबीलाई रोमांस के बनजारों का और उनकी बनजारी प्यारी भाषा का ही कर्ज बहुत बड़ा मानने लगेंगे कि कम से कम हिंदुस्तान की हकीकत टुकड़ों-टुकड़ों में सही इनकी बैठकों में सुरक्षित तो है, भले ही इन टुकड़ों के संदर्भ सब डीह बन गए हों।

और मुझे इस कल्पना से भय लगता है। 'नैश अंध-पथ' पार किया, भय नहीं लगा, क्योंकि हाथ में एक मशाल जल रही थी, हृदय में एक संकल्प प्रकाशमान था कि स्वतंत्र होकर रहेंगे, अब आजादी के नाम पर एक मटमैली रोशनी है, इग्लैंड के आकाश की बारहमासी छटा हमारे ऊपर लरजी हुई है, हां, वहां उमस नहीं है, घुटन नहीं है, क्योंकि वह आकाश वहां के लोगों का अपना है पर यहां एक, अतिरिक्त वरदान के रूप में भयंकर उमस है, दमतोड़ घुटन है और एक दुस्सह चीकट गंध है जिसे कोई सुगंधित द्रव्य ढक नहीं पाता।

बच्चे पतंग उड़ा रहे हैं, पतंग लड़ा रहे हैं और मुझे चिंता हो रही है कि छतों पर मुंडेरे नहीं हैं, मैदान में कूड़ों का अंबार है, जिसमें खाने-पीने की सड़ी-गली चीजें तो हैं ही, फूटे शीशे, टूटी चूड़ियां और जंगखाई आलपीनें भी होंगी, कहीं कोई दुर्घटना न हो जाए। बरजा जा नहीं सकता, क्योंकि बरजने के लिए एक भाषा चाहिए, जिसे दोनों पीढ़ियां समझती हों, कोई भाषा है ही नहीं। नहीं, नहीं, एक भाषा है, मैंने वह सीखी नहीं, अब सीखना भी मुश्किल, वह भाषा है भय की, हिंसा की, वह स्वाधीन भारत की सबसे सशक्त संपर्क-भाषा है।

डर लगता है कि केंद्राभिमुख प्रवृत्ति का केंद्र मध्यदेश, हिंदीभाषी विशाल भू-भाग इस भाषा को न सीखने लगे, क्योंकि अपनी भाषा में वह अपनी अस्मिता पाने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है, यह कहकर वंचित कर दिया गया है कि तुम्हारी भाषा तुम्हारी थोड़े ही है, समस्त देश की संपत्ति है। आज हिंदी सबसे अधिक दब्बू प्रजाजन की भाषा है, वह केवल प्रभु के आगे घिघिया सकती है, वह प्रभुओं की लीला का गान नहीं कर कर सकती, क्योंकि लीला-गान के लिए दिव्य-दृष्टि चाहिए, वह बाहर से आयातित है, हिंदी के कोटे में वह नहीं है।

मैं चुप गुमसुम रहता हूं, आंखें मूंद लेता हूं, एक क्षण के लिए सिमटती हुई धूप का एक बूंद पानी पीने के लिए मोर बन जाना चाहता हूं, किन्हीं तरु-शिखरों पर यह बूंद शायद अभी मिल जाए। स्वाधीनता की उस बूंद की प्यास नहीं जाती, क्योंकि जीवन का बड़ा भाग बंद कमरों में नहीं बीता, यह प्यास जब जगती है तब आक्रोश भी जगता है, जिन लोगों ने स्वाधीनता को कमरों में बंद किया है, अवास्तविकता की भाषा में कैद किया है, उन्हें कैसे क्षमा कर दूं ?